पंचकोश विवेक

कर्ता—

परमहंस स्वामी योगानन्द,

(आलू वाले बाबा)

वेदान्त केसरी कार्यालय,

बेलनगंज—आगरा।

संवत् १९८८

१०००]

[मूल्य १)

अनुक्रमणिका।

॥ ॐ ॥

पंचकोश विवेक

गुरुस्तुति

त्रिभंगी छन्द ।

(१)

जय जय गुरु स्वामी, अंतर्यामी, सच्चित् आनँद राशी ।
सचराचर नायक, जन सुखदायक, माया पर अविनाशी ॥
जय करुणा सागर, सब विधि नागर, शरणपाल भगवाना ।
भक्तन हितकारी, नर तनु धारी, गावत वेद पुराणा ॥

(२)

जय भव भय भंजन, नित्य निरंजन, गुणातीत गुणखानी ।
जय अचल अकामा, पूरण कामा, मानद आप अमानी ॥
जय कमल विलोचन, संशय मोचन, ब्रह्म रूप जग त्राता ।
परिपूरण त्यागी, जन अनुरागी, चारि पदारथ दाता ॥

(३)

जानत सब विद्या, हरत अविद्या, अकल सकल कल पंडित ।
नहिं लेश विषमता, अविचल समता, यकरस ज्ञान अखंडित ॥
कोमल चित योगी, विषय वियोगी, सुखकर चिंता हर्ता ।
निज सेवक संगी, सदा असंगी, कर्ता महा अकर्ता ॥

(४)

निर्भय भय नाशक, ज्ञान प्रकाशक, सेवत नर बड़ भागी ।
ब्रह्मादिक देवा, करते सेवा, चरण कमल अनुरागी ॥
प्रभु निश दिन ध्याऊँ, गुणगण गाऊँ, कामादिक हर लीना ।
यह मन क्रम वाचा, सेवक सांचा, जन अपना कर लीना ॥

(५)

पामर अविचारी, मिथ्याचारी, सत्य असत्य न जाने ।
सुत वित लिपटाने, निपट अयाने, कि सद्गुरु पहिचाने ॥
नहिं सद्गुरु चीन्हा, अति ही दीना, लख चौरासि भटकते ।
गुरुपद चित दीना, परम प्रवीणा, नहिं कौशल्य ! अटकते ॥
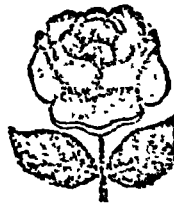
सुख की खोज।

गंगा जी का निर्मल जल गम्भीर स्वभाव से बह रहा है, भूमि समतल होने से जल का शब्द नहीं होता, प्रातःकाल का समय है, संसार भर में शान्ति है, तो भी पक्षी दिन होने के आनन्द में कोलाहल कर रहे हैं। इस स्थान से बस्ती कुछ दूर है। इस प्रातःसंध्या के समय में भी गंगा तट पर संध्योपासक दिखाई नहीं देते। एक पथिक जो कुछ रात्रि शेष रहने पर ही शहर से चल दिया था यहां आया और शान्ति दायक स्थान देखकर उसने चारों दिशाओं में दृष्टि डाली तो कोई मनुष्य दिखाई न दिया। थोड़ी दूर पर उसने सघन वृक्षों से घिरा हुआ एक दिव्य स्थान देखा। उसको देख कर उस के अन्तःकरण में स्वाभाविक प्रेम का आविर्भाव हुआ और वह गंगा तट को छोड़ कर दिव्य स्थान की तरफ चला। ज्यों ज्यों वह स्थान समीप आता था त्यों त्यों उसका हृदय प्रफुल्लित होता जाता था। दूर से कोई मनुष्य तो दिखाई नहीं दिया परन्तु ऊंचे वृक्ष में बांधी हुई भगवां ध्वजा फहराती दिखाई दी जिससे उसने अनुमान किया कि यह अवश्य ही साधुओं का स्थान है। तुरन्त उसने कषाय वस्त्र धारण किये हुए कुछ सन्यासी देखे और समीप जाने से मालूम हुआ कि जगदेश्वरी शक्ति (कुदरत) वहां साइनबोर्ड (Sign Board) का काम कर रही है! आने वालों को शान्तिआश्रम बता रही है। पथिक विचारने लगा "बहुत दिनों से जिस परिश्रम में मैं लग रहा हूँ और जो आज तक सफल

नहीं हुआ, इस स्थान पर उसके सफल होने की सम्भावना है।" स्थान के चारों तरफ थूहड़ की घनी बाड़ लगी हुई थी, केवल एक फाटक भीतर जाने को था, उसमें होकर पथिक भीतर गया। भीतर घुस कर उसने एक छोटा सा रमणीक बगीचा देखा। उसको देखता हुआ वह आगे बढ़ा तो देखा कि कपाय वस्त्र धारण किये हुए एक मनुष्य बगीचे के वृक्षों से सूख कर गिरे हुए पत्तों को एकत्र कर रहा है। पथिक ने उससे ॐ नमो नारायण कर के पूछा "स्थानाधीश्वर महाराज कहां विराजते हैं?" स्वामी ने कहा "आप सीधे चले जाइये, सामने के बंगले में आपको महाराज के दर्शन होंगे।" पथिक आगे बढ़ा और बंगले के द्वार पर पहुंच कर उसने देखा कि एक तख्त के ऊपर बाघांबर बिछा हुआ है, पीछे एक मखमल का गदेला रक्खा है, तख्त पर दिव्य श्वेत रंग के शरीर वाला, देखने में चालीस पैंतालीस वर्ष की आयु वाला, भव्य आकृति वाला, भगवां वस्त्र-धारी एक सन्यासी बैठा हुआ है, और तख्त के नीचे बिछी हुई चटाई पर दो सन्यासी और बैठे हुए पुस्तक पढ़ रहे हैं। पथिक ने भीतर जा कर ॐ नमो नारायण का उच्चारण किया और साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके वह भी पड़ी हुई चटाई पर बैठ गया। पाव घड़ी तक तो संत पढ़ने वाले शिष्यों को समझाते रहे। पाठ पूर्ण होने के पश्चात् उन्होंने पथिक से कहा "आप का आना इस स्थान पर किस प्रकार हुआ? आप दूर देश के रहने वाले जान पड़ते हैं।" पथिक ने कहा "महाराज! आपका कहना सत्य है, मैं देश देशान्तरों में बारह वर्ष से घूम रहा हूँ,

वन, ग्राम, शहर अनेक प्रकार के स्थानों और देशों में मैं घूमा हूँ, परन्तु जिस वस्तु की मुझे खोज है वह मुझे कहीं नहीं मिली। मिलना तो एक तरफ रहा, वह वस्तु कहां है इसका भी पता नहीं लगा। उसी की खोज में मैं यहां आया हूँ।" संत ने कहा "वह ऐसी कौन सी वस्तु है?" पथिक ने कहा, "आप संत महात्मा हैं, इस स्थान पर आपके समीप आने से मुझे ऐसा भास होता है कि मेरी वस्तु का पता आपके पास मिल जायगा। मेरी वस्तु सुख है, मैं सुख की खोज में हूँ। सुख सम्बन्धी मुख्य चार बातें हैं:—(१) सुख क्या वस्तु है? (२) सुख किसमें है? (३) सुख का स्थान कौन सा है? और (४) सुखी कौन है?" संत ने स्मितहास्य से कहा "वाह! आपने वस्तु भी अच्छी निकाली! बारह वर्ष खोजने पर भी आपको उसका पता न लगा! बारह वर्ष में जो जो प्रयत्न आप कर चुके हैं वह सुनाइये।"

पथिक कहने लगा, "महाराज! मैं जाति का ब्राह्मण हूँ, ब्राह्मण आज कल जिस प्रकार अपनी जीविका चला रहे हैं, उस प्रकार के व्यवहार चलाने में बाल्यावस्था से ही मुझको घृणा है। मैंने देखा कि यजमान वृत्ति में बहुत कष्ट है, हर किसी को सेठजी, सेठ साहब, लाला जी, बाबू साहब, अन्नदाता कहना पड़ता है, हर एक के सामने हाथ फैलाना पड़ता है, दीनता दिखानी पड़ती है। यह सब करने पर भी इस समय में योग्यतानुसार व्यवहार चलना कठिन है, धन की पूर्ति नहीं होती। मृतक के निमित्त का दान लेना मुझे बहुत बुरा लगता है, ब्राह्मणों में होने वाले ब्राह्म-

णत्व से हम रहित हैं। जिस ब्राह्मणत्व से ब्राह्मण अग्निमुख वाला—सब प्रकार के दान की आपत्तियां जलाने वाला होता है वह हममें कहां है ? सामर्थ्य रहित होकर दान लेने से दान लेने वाला ही दग्ध होता है ! मेरे पिता ने मुझको यजमान वृत्ति के कार्य में नियुक्त करने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु मैंने उस कार्य को न किया। संस्कृत पढ़कर पंडिताई से व्यवहार चलाना भी ठीक नहीं समझा, संस्कृत पढ़े हुए पंडितों को मैंने देखा है, वे प्रायः कंगाल ही देखने में आये हैं। जो कोई धनवान पाये तो वे विद्या से धनवान नहीं हुए, परन्तु छल प्रपंच से धनवान् हुए जाने गये। आज कल विद्या के निमित्त विद्या नहीं पढ़ी जाती। छल से लोगों को ठग कर मैं धनवान् होना नहीं चाहता। मैं भाषा और कुछ संस्कृत भी पढ़ा हूँ परन्तु पंडिताई से व्यवहार चलाना उचित नहीं समझता। सच्ची पंडिताई और ब्राह्मणत्व को इस काल में पूछ नहीं है। पिता मांग जांच कर कुटुम्ब का पालन पोषण करते थे, उन्होंने मेरा विवाह कर दिया था। माता और पिता के देहान्त होने से मैं और मेरी स्त्री दो प्राणी रह गये। किसी प्रकार के उद्यम बिना काम न चलता देखकर एक बजाजकी दुकान पर मैंने नौकरी कर ली। स्त्री नित्य प्रति कलह किया करती थी। मैंने सोच रक्खा था कि खर्च की तंगी के कारण वह कलह किया करती है, कुछ वेतन बढ़ जाने से शान्त हो जावेगी। दूकान का काम मैं भली प्रकार प्रमाणिकता से करने लगा। कुछ ही मास में मालिक ने मेरी योग्यता जान कर वेतन दूना करके मुझे मुख्य मुनीम बना दिया। अब मुझे ५०) रु० मिलने लगे थे परन्तु इस

पर भी स्त्री का कलह न मिटा ! बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों की मांग बढ़ती गई। यदि मैं स्त्री की कोई बात न मानता, अथवा कुछ विलम्ब करता तो वह मुझसे दिन रात झगड़ा करती। मैंने सोचा कि एकाध लड़का होने से इसकी लड़कबुद्धि चली जायगी। लड़का भी हो गया परन्तु वह न सुधरी। लड़का बारम्बार बीमार पड़ जाता था, उसकी चिन्ता भी मुझे दुःख देने लगी। स्त्री पुत्रों के बीच में मैं एक दिन भी सुखी न रहा। मालिक बारम्बार मुझ पर हुक्म चलाता, मेरा दोष हो अथवा न हो वह कुछ न कुछ मेरा दोष निकाल देता और कटु वचन सुनाया करता। यह सब मुझे सहन करना पड़ता था। ऊपर मुख से तो मैं कुछ न बोलता, भीतर चिन्ता से जला करता था। नौकरी छोड़ नहीं सकता था क्योंकि और व्यवहार करने की कोई सूरत नहीं दीखती थी। इस प्रकार घर पर दुकान पर कहीं भी मुझे चैन न था। इसके पश्चात् दैवयोग से ऐसा हुआ कि ताऊन (प्लेग) की बीमारी चली और उसमें मेरी स्त्री और लड़का दोनों मर गये। मालिक के यहां भी सब मर खप गये। दुकान बंद होगई। मैं स्त्री, पुत्र और नौकरी रहित हुआ। मेरा दूसरा विवाह होना सम्भव न था कदाचित् होता तो भी मेरा दृढ़ निश्चय था कि मैं अब विवाह न करूंगा विवाह कर के दहकती हुई अग्नि में न पड़ूंगा ! इसी प्रकार नौकरी की तरफ से भी मैं उदास था। इसलिये मैंने निश्चय कर लिया कि न तो विवाह करूंगा और न नौकरी करूंगा, प्रसंगोपात कुछ भी कार्य करके उदर निर्वाह करूंगा। परन्तु क्या करूं क्या न करूं इस चिन्ता में कई दिन बीत गये, शान्ति न रही। अंत में

मैंने सुख की खोज करने का निश्चय किया और जो मुझे सुखी मालूम होता, उसी से मैं मेल करके उस के अंतःकरण का हाल जानने लगा। 'ब्राह्मणों की आयु सुखमय नहीं है' यह तो मैं प्रथम ही जानता था, बनिये की दुकान पर नौकरी करके देख लिया, वहां भी सुख न पाया क्योंकि वनिये लोग सच, झूठ तथा अधर्म से अपना धंधा चलाते हैं। मैंने अपने मालिक के हृदय में शांति कभी न देखी। 'क्षत्रियों को सुख होगा' यह जानने के लिये मैं एक सेना के जमादार के यहां कुछ दिन के लिये रसोई बनाने पर नौकर हो गया। दो दिन तक तो वह सुखी हो ऐसा मालूम हुआ, तीसरे दिन जब जमादार भोजन कर रहा था, आधा भोजन कर चुका था कि इतने में ही एक सिपाही ने आकर समाचार दिया कि केप्टिन (Captain) साहब नीचे खड़े हैं। जमादार ने सुनते ही खाना छोड़ दिया, हाथ धोकर नीचे चल दिया, शांति से भोजन भी न कर सका। दो घंटे बाद लड़ाई का हुक्म मिला, उसका घर वहां से पांच कोस दूर था, बिचारे को बाल बच्चों से मिले विना ही जाना पड़ा। यह देख कर मुझे पूर्ण निश्चय हो गया कि वह सुखी नहीं है। 'शूद्र वर्ण को सुख है या नहीं' यह विचार कर मैंने जमादार के कहार से एक दिन एकान्त में कहाः—'मित्र नथिया, जमादार इतने बड़े हैं परन्तु उन्हें सुख नहीं दीखता, समय पर कुटुम्ब को तथा खाने पीने को भी छोड़ना पड़ता है, तू सुखी है, अपना काम करता है, बना बनाया तैयार खाना मिलता है, तनखाह अलग लेता है, कपड़ा लत्ता भी मोल लेना नहीं पड़ता।' नथिया ठंडी सांस भर कर कहने लगा 'वाह!

वोहरे जी, मुझे सुख कहां ? तुम देखते नहीं हो ! गाली गलौज, धौल धप्पड़ मिला ही करता है। थोड़ी सी तनखाह मिलती है, मंहगा सम्वत है, वाल वच्चों का पेट भी नहीं भरता। नंगी क्या नहाय, क्या निचोड़े, तुम तो मेरे मित्र हो, तुमसे सच कहता हूँ कि अवसर मिलने पर कोई न कोई वस्तु विहारी कर ही देता हूँ। चुराते समय और पीछे भी चित्त दुःख पाता है। अनेक प्रकार की चीज़ें और तनख्वाह घर पर भेजता रहता हूं, तो भी जब घर जाता हूँ तब स्त्री बच्चे चील के समान मुझे नोच नोच खाते हैं। मेरे दिल की बात मैं ही जानता हूँ, सुखी तो तुम्हीं दीखते हो, वाल नहीं, बच्चा नहीं, अकेला शरीर है, अच्छा मनमाना खाते हो; तनखाह अंटी में लगाते हो, सब महाराज महाराज कहते हैं।' कहार की बातों से मैंने जान लिया कि शूद्र भी सुखी नहीं हैं। पश्चात् मैंने वह नौकरी छोड़ दी, कुछ रुपया मैंने एकत्र कर लिया था उससे गुजर करने लगा और सुख ढूंढने लगा। एक दिन मैंने विचार किया 'वाल्यावस्था में सुख होगा। मुझे तो वालपने में सुख न था क्योंकि पिता से मेरा मेल न था। जो पुत्र माता पिता के अनुकूल होंगे उन्हें अवश्य सुख होगा' ऐसा विचार कर थोड़ी सी मिठाई बाज़ार से मोल ले मैं गली कूचों में घूमने लगा। एक गली में एक लड़के को रोता हुआ देख कर मैं उसके पास गया और उसे आश्वासन देकर थोड़ी सी वरफी खाने को दी। जब लड़का वरफी खा चुका तब मैंने उससे कहा 'लल्ला ! तू क्यों रो रहा था ?' वह रोकर कहने लगा 'लड़के मुझे मारते हैं, जब

इनके साथ खेलने को जाता हूँ तब वे मुझे भगा देते हैं, गालियां देते हैं, न भागूं तो मारते हैं। कई बार मैं रोता २ माता पिता के पास भी जा चुका हूँ, वे कुछ नहीं कहते।' मैंने कहा 'लड़के तुझे विना दोष मारते हैं तब भी तेरे माता पिता कुछ नहीं कहते ?' लड़के ने कहा 'नहीं ! मैं उन लड़कों के माता पिता के पास भी गया हूं और शिकायत कर चुका हूँ तो भी वे अपने लड़कों से कुछ नहीं कहते उलटा मुझे ही फटकार देते हैं।' मैंने पूछा 'तेरे माता पिता कुछ क्यों नहीं कहते ?' लड़के ने कहा 'जो लड़के मुझे मारते हैं उनका बाप साहूकार है, मेरा पिता उसका गुमाश्ता है।' मैं थोड़ी सी बरफी और देकर वहां से चल दिया और थोड़ी दूर चलकर मैंने एक छोटी लड़की रोती हुई देखी, मेरी और उसकी ये बातें हुई:—मैं:-लल्ली ! क्यों रोती है ? लड़की:—(चुप, कुछ न बोली)। मैं:-(पुचकार कर और बरफी देकर) बोल लल्ली ! क्यों रोती है ? लड़की:-मेरी मां मुझे मारती है, आज रोटी खाने को नहीं दी, घर से निकाल दिया है। मैं:—दूसरी (सौतेली) मां होगी ? लड़की:—हां, मुझे रोज मारती है, कभी कभी खाने को भी नहीं देती, दिन भर काम कराती है, मैं थक जाती हूँ तब भी उसे दया नहीं आती, रोऊं तो रोने भी नहीं देती, कभी मैं बाबू (पिता) से मारने की बात कहूँ तो धमकाती है और विशेष मारती है, खाने को नहीं देती। कहीं मेरी मा से मत कह देना। मेरे बाबू भी मेरी बात नहीं सुनते, मैं बहुत ही दुखी हूँ।

मैं आगे बढ़ा तो एक उदास मुख वाला लड़का बैठा हुआ मिला। उसकी और मेरी ये बातें हुईं:—मैं:—मुन्ना ! उदास क्यों है ? लड़का:—मेरी उदासी से तुमको क्या ? मैं:—(बरफी दिखा कर) लो। लड़के ने प्रसन्न होकर बरफी ले ली। मैं:—बच्चा ! सच कह तू क्यों उदास है ? लड़का:—सब लड़के कभी बरफी, कभी इमरती, कभी अंगूर, बेर, ककड़ी आदि अनेक चीजें मोल ले ले कर खाया करते हैं, प्रथम वे मुझे दे दिया करते थे परन्तु अब मुझे नहीं देते, मुझ से छुपा कर खा जाते हैं। कारण यह है कि मेरा बाप मुझे कभी पैसा नहीं देता। यदि मेरा बाप भी मुझे पैसा देता होता तो मैं भी कुछ लेकर खाया करता और उन लड़कों को भी दिया करता तो कैसा अच्छा होता ! वे मुझे बुलाया करते !

मैं वहां से चल दिया, मार्ग में विचारता जाता था:—'बाल्यावस्था भी दुःख रूप है, प्रथम तो विशेष बुद्धि नहीं होती, परतन्त्र होते हैं, घर में माता पिता का त्रास रहता है। पढ़ने का त्रास, शिक्षक का त्रास, और बड़े लड़कों का त्रास रहता है। सारांश यह है कि बाल्यावस्था सुख रूप नहीं है। लड़कों को किसी न किसी प्रकार दुःख अवश्य रहता है, युवावस्था में जो जो दुःख होते हैं, उनका अनुभव मैंने स्वयं किया है। जबतक मेरा विवाह नहीं हुआ था तब तक विवाह न होने का दुःख मानता था। अंत में विवाह होने के पश्चात् स्त्री पुत्रों के कारण दुःखी रहा। मैं तो गरीब था इसलिये दुखी रहा परन्तु जो गरीब नहीं हैं और युवावस्था व्यतीत कर चुके हैं उनसे मिलकर जानना चाहिये कि वे सुखी थे अथवा न थे और अब भी सुखी हैं या नहीं ?' ऐसा

विचार कर शहर के सब श्रीमानों के ऊपर मैंने क्रम क्रम से दृष्टि डाली और एक एक के गुण दोष विचारे तो हर एक में कुछ न कुछ दुःख जान पड़ा। एक साहूकार ऐसा विचार में आया कि जिस को प्रत्यक्ष में कोई दुःख मालूम नहीं होता था। जब मैं बजाज के यहां नौकरी करता था तब मालिक के काम के लिये कभी २ उस के यहां जाना पड़ता था, उसका नाम सुन्दरलाल था। एक दिन मैं उसके घर पर गया, उस समय उसके सिवाय और कोई दूसरा मनुष्य उसके पास न था। उसने प्रसन्नता पूर्वक मुझे बैठाया और हम दोनों में ये बातें हुईं। सुन्दरलाल:—बहुत दिनों बाद तुम्हारे दर्शन हुए। मैं:—बजाज के यहां से नौकरी छूट जाने के बाद मिलना नहीं हुआ। सुन्दरलाल:—आज कल क्या काम करते हो? मैं:—अभी तो मैं कुछ नहीं करता हूं। सुन्दरलाल:—जो नौकरी करने की इच्छा हो तो मैं बड़ी खुशी से तुमको रख लूँगा। मैं:—आपकी दया है, मैं आपका हूं, अभी तो मैं भी स्त्री बच्चे के शोक से दुखी हूँ, थोड़े दिन बाद नौकरी आदिक करने का विचार है। सुन्दरलाल:—जैसी तुम्हारी मरजी, परन्तु नौकरी के लिये चिन्ता मत करना, जब तुम चाहो तुम्हारे लिये नौकरी तैयार है। भला खाली बैठे क्या किया करते हो, समय समय पर मिलते रहा करो, इधर उधर घूमने से भी दिल बहल जाता है।

सेठ जी से आज्ञा लेकर मैं घर लौट आया, मुझे उनके अवकाश (फुरसत) का समय मालूम हो गया था, मैं नित्य प्रति उनके पास जाने लगा। कभी धन्धे की बातें, कभी राज्य चर्चा;

कभी देश सुधार इत्यादि की बातें हुआ करतीं। दश दिन के भीतर ही मैं सेठ जी का परम मित्र हो गया। बहुत सी गुप्त बातें भी वे मुझ से दिल खोल कर कहने लगे। एक दिन मैंने सेठ जी से इस प्रकार बात छेड़ी:—

मैं:—सेठ जी! दुनियां में मैं जिसको देखता हूँ उसको दुःखी ही देखता हूँ। कितने ही दिनों से मैं सुखी मनुष्य की खोज कर कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि में हमारे देश में तो कोई सुखी नहीं दिखाई देता। आपही सुखी मालूम होते हैं, देखने में आपको सब प्रकार का सुख प्राप्त है। शहर भर में आपकी मान प्रतिष्ठा है, धन भी आपके पास पूरा है, स्त्री भी अनुकूल है, ईश्वर ने पुत्र दे रक्खे हैं, आपका स्वभाव सरल और आस्तिक भाव वाला है, जो कार्य आप करते हैं, विवेक विचार से करते हैं, दान पुण्य और शास्त्रीय क्रियायें भी आप करते हैं, नियमित रीति से ईश्वर भजन भी किया करते हैं, इस शहर में तो एक आप ही सुखी हैं। सब प्रकार से आप पर ईश्वर की कृपा है। आप धन्य हैं!

सेठजी:—(उदास मुख से ठंडी सांस लेकर) मैं? नहीं ऐसा नहीं है। जैसा तुम कहते हो, ऐसा सुखी मैं नहीं हूँ। संसार की दृष्टि में मैं सुखी दिखाई देता हूँ परन्तु आंतर भाव से जैसा दुखी मैं हूँ ऐसा दुखी इस शहर में क्या पृथ्वी पर भी कोई न होगा।

मैं:—(जी में) कैसे आश्चर्य की बात है! जिसको मैं संपूर्ण सुखी समझता था, वह अपने को महान् दुखी बताता है। (सेठ जी से) सेठ जी! आप अपने को दुखी बताते हैं! देखने

में तो कोई ऐसा चिन्ह मालूम नहीं होता आंतर में ऐसा भारी दुःख कौन सा है ? यदि आपको बताने में कुछ हानि न हो तो कृपा करके बताइये ।

सेठ जीः—बात बताने योग्य नहीं है, उस बात को गुप्त रखने की आवश्यकता भी है, क्योंकि बात प्रत्यक्ष होने से मेरी प्रतिष्ठा भंग होगी। लोग मुझे मूर्ख बतावेंगे, दुष्ट समझेंगे। शरीर छूटने पर ही उस दुःख की निवृत्ति होगी फिर हंसी भी क्यों करानी ? तुम मेरे मित्र हो इसलिये न कहने की बात भी तुम से कहे देता हूँ यह बात दूसरे से न कहना जिससे मेरा फजीता हो। किवाड़ बन्द करदो, यहां कोई आने न पावे। (मैं उठ कर किवाड़ बन्द करके पास आ बैठा) सुनो ! मेरे बाप दादा इस शहर के रहने वाले थे, वे कुछ धन छोड़ कर मरे थे। जब मैं जवान था एक समय धन्धे में बड़ा भारी टोटा पड़ा, युवावस्था का जोश कुछ और ही होता है, युवावस्था की गदहा पचीसी में मैंने सब रंग खेले हैं। मुंबई की विशेष शोभा सुनकर वहां की मौज मजा भोगने को धन्धे के बहाने से यहां का काम मुनीम को सौंप कर मैं वहां गया और थोड़े दिन पीछे मैंने स्त्री को भी वहीं बुला लिया। नाच, रंग, खेल तमाशों में और वारांगनाओं के यहां बहुधा मैं जाया करता था परन्तु स्त्री के प्रेम में किंचित् मात्र भी न्यूनता न थी। मेरी प्रीति स्त्री के ऊपर विशेष थी, मेले तमाशों में उसको साथ रखता था। वह भी मुझ पर बहुत प्रेम रखती थी और अन्य स्त्रियों से मेरा अयुक्त व्यवहार देखकर भी वह किंचित् बुरा नहीं मानती थी, मुझको ईश्वर

समान पूजती थी। मैं भी उसे देवी समान समझ कर उसका आदर करता था। उस समय मेरी उम्र बीस वर्ष की और उसकी उम्र सोलह वर्ष की थी।

अन्य स्त्रियों से अयुक्त व्यवहार का जिक्र तो मैंने कर ही दिया है, उन्हीं में से मेरे एक मित्र की स्त्री थी। हमारी मित्रता वास्तविक मित्रता तो क्या ही थी परन्तु स्वार्थ युक्त होने से ऊपर से सच्ची मित्रता से भी बढ़ी चढ़ी थी। मित्र महोदय भी व्यापारी थे और बड़े धनी थे और संयोग से मेरे ऐसे ही घर के अकेले और युवक थे। अभी कोई सन्तान नहीं थी, भिन्नता थी तो इतनी ही कि वे स्नेही तबियत के थे, मुझसे मनचले नहीं थे। मेरा उनकी स्त्री से गुप्त प्रेम होगया और हम दोनों एक दूसरे को बहुत चाहते थे। वह स्त्री भी उन्हें मनचला न जानकर उनसे ऊब रही थी और मेरे ही पास रहना चाहती थी, परन्तु भय वश ऐसा न कर सकती थी, मैं भी शान्त था।

उन्हीं दिनों में मुंबई में बड़े जोर का प्लेग फैला, लाशों पर लाशें पड़ने लगीं हमें भी अच्छा अवसर हाथ लगा। हमारे मित्र महोदय को एक दिन ज्वर आया था बस हमने प्लेग प्रकाश करके अपना नीच स्वार्थ साधा और विष प्रयोग से उनकी हत्या कर डाली। मेरा मित्रता का बरताव सभी जानते थे अतः उनका काम काज उनकी स्त्री के लिये संभालने में मुझे कोई कठिनाई न पड़ी। सब धन समेट कर और उस स्त्री को लेकर मैं धनी बन बैठा।

अकस्मात् मेरी स्त्री भी बीमार हुई और उसे प्लेग होगया। इस स्त्री की राय पर चल कर मैंने अपनी साध्वी देवी का इलाज करना तो दूर रहा पानी तक न दिया। वेचारी पानी और दवा को तड़प २ कर और अन्त में मेरे दर्शनों को तरस कर मर गई पर मुझ अन्धे को तरस न आया। मैं उस वेचारी के पास तक न गया। जिससे वेचारी मुझे अन्तिम समय में देखकर शान्ति से तो मरती।

अब यह वही स्त्री है और उसी धन से मैं इतना धनी बना हूँ। हम दोनों में आपस में प्रेम भी है पर भीतरी नहीं। कम से कम मुझमें तो नहीं। हम दोनों मुंबई से यहां आकर रहने लगे हैं, संतानें भी हो गई हैं पर मैं इन सब से युक्त होने पर भी सुखी नहीं हूँ। संसार इस भेद को नहीं जानता वह हमें सुखी भले ही मान ले। मेरे सामने तो मित्र घात तथा सती पत्नी की हत्या के दृश्य नाचते हैं। उनके भूत मुझे खाये डालते हैं। दान, पुण्य, व्रत आदि सब करता हूँ पर चित्त को शान्ति नहीं होती, भीतर ही भीतर जला करता हूँ, ऊपर से सुखी दीखता हूँ।

मेरे बाह्य आचरण से तुमने भी धोखा खा कर मुझे सुखी समझा। अब बोलिये, जैसा आपने मुझे सब से अधिक सुखी समझा था वैसा ही मैं सब से ज्यादा दुःखी हूं या नहीं ?' जब यह वृत्तांत सुना तो मैं भयभीत होगया और ऐसा दुःख किसी और को होना असम्भव जानकर मैंने कहा 'सेठजी ! सचमुच मुझ से भूल हुई। आपने अपना गुप्त हाल मुझसे कहा है मैं उसे

गुप्त रखने का प्रयत्न करूंगा। आपका आभार मानता हूँ कि मुझ जैसे मनुष्य को आपने अपना भेद बताया है। सेठजी इससे तो मुझे यह निश्चय होता है कि इस जगत् में वास्तविक सुखी कोई नहीं है। देश देशान्तर में घूम कर मैं इसका निर्णय करूंगा' ऐसा कहकर, सुन्दरलाल की आज्ञा लेकर मैं घर लौट आया। विविध पंथ के साधुओं को मैंने देखा है। बहुत से साधु तो कंगले समान ही देखने में आये हैं। उन लोगों को सुख हो ऐसा नहीं जान पड़ता वे सदा अशांति में रहते हैं। अनेक इच्छाओं से भरे हुए हैं। गृहस्थियों से याचना करने वाले, रहने को घर नहीं पहनने को वस्त्र नहीं, ऐसे साधु तो प्रत्यक्ष दुःखी दीखते ही हैं, ऐसा समझ कर उनमें कौन सुखी है इस बात की खोज करने की मेरी वृत्ति नहीं हुई। संसार से विरक्त और योग्य साधुओं में कोई सुखी होगा यह खोज करने के लिये जो मुझे सुखी मालूम होता उसकी सूक्ष्मता से खोज करता। एक बार एक स्थानाधिपति आचार्य शहर में आया, वह बहुत अच्छा समझा जाता था। मैंने बहुतसे प्रतिष्टित पुरुप उसके पास जाते देखे और उनके मुख से उसकी प्रशंसा भी सुनी, इसलिये मुझे उसके दर्शनों की इच्छा हुई। जब मैंने उसे जा कर देखा तो किसी प्रकार का दुःख देखने में न आया। श्रीमान् लोग सदा सेवा में रहते थे, नौकर चाकर और शिष्य वर्ग महाराज कुछ आज्ञा करें इसकी बाट देखते रहते थे। पास रहने वाले पंडित भागवत की कथा दो तीन घंटे सुनाया करते थे, मुख्य बात समझाने का काम आचार्य जी

करते थे, लोगों की शंका का समाधान भी वे ही करते थे। दो चार दिन दर्शन करने और उसकी कथा सुनने से मेरी श्रद्धा दिन प्रति दिन बढती गई, मैं उसके पास नियम से जाने लगा विशेष परिचय विना सुखी है अथवा दुखी है यह नहीं जाना जाता, इसलिये उसके काम काज में मैं सम्मिलित होने लगा। थोड़े दिनों में वह अपनी मंडली के मनुष्यों के समान मेरे साथ वर्ताव करने लगा। आचार्य को विशेष प्रिय हो जाऊं इसलिये मैं एक वार सुन्दरलाल के पास जा कर और उससे उसकी प्रशंसा करके उसके दर्शन कराने ले गया। इसी प्रकार और दो चार साहूकारों को भी उसके दर्शन कराये। जव मैंने मोटी मोटी रकमें आचार्य को भेंट दिलवाई तव मेरे द्वारा विशेष लाभ होता देख कर उसकी प्रीति मेरे ऊपर वढ़ती गई। थोड़े दिनों में यहां तक प्रीति बढ़ गई कि वह मुझे सब मनुष्यों से विशेष चाहने लगा। अब तो वह एकांत में घंटों तक मेरे साथ बात चीत करता रहता। किस साहूकार से किस प्रकार वर्ताव करना, विशेष भेंट किस प्रकार प्राप्त हो, इस प्रकार की उसकी युक्तियों में मैं सम्मिलित होने लगा। मेरे इस प्रकार के वर्ताव से आचार्य मुझ को पूर्ण हित-कर, विश्वासपात्र, और सन्मित्र समझने लगा। मैं उसके साथ पूज्य भाव से वर्ताव करता रहा जिससे धीरे धीरे मुझे मालूम होने लगा कि उसको धन की इच्छा है। मैं देखा करता था कि उसके पास खर्च से अधिक भेंट आती है किंतु इतना मिलने पर भी उसे अधिक धन प्राप्त होने की तृष्णा बनी रहती है। एक दिन मैंने विचार किया "आज तक के सहवास से मुझे इतना

मालूम हुआ है कि आचार्य को धन की तृष्णा ने दीन कर रक्खा है। यह भी आंतरिक भाव से सुखी नहीं है।" उसी दिन उसने रात्रि के समय मुझे छत के ऊपर बुला कर कहा "भाविक! तू मेरे हित में नित्य तत्पर रहता है, मुझे गुरु समझ कर निष्कामता से सहायता देता है, मैं तुझे मित्र समझ कर कहता हूँ, कदाचित् तेरे जी में शंका उठती होगी कि आचार्य जी धन की तृष्णा क्यों करते हैं? इसका कारण सुन कि मुझे इस समय धन की बहुत आवश्यकता है, क्योंकि यदि मुझे धन न मिले तो मैं अपना मुकद्दमा जो बहुत दिनोंसे चल रहा है न चला सकूं। यदि मुकद्दमा न चलाऊं तो मेरा बीस वर्ष का किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जाय।" मैंने कहा "आप तो धर्माचार्य हैं, त्यागी, ज्ञानी और विद्वान् हैं। आपकोमुकद्दमे से क्या वासता? मुकद्दमेवाजीतो गृहस्थियों का काम है। लड़ाई की जड़ जर (धन), जमीन और जोरू इन तीन के सिवाय चौथी नहीं है।" आचार्य उदासीन मुख से कहने लगा, "हां! यह तेरा कहना सत्य है, हम लोग त्यागी, ज्ञानी और विद्वान् कहे जाते हैं, परन्तु त्यागी अथवा ज्ञानी होना कोई सहज बात नहीं है। त्यागी और ज्ञानी के स्वरूप वाले हम लोग भी एक प्रकार के गृहस्थी ही हैं। हम लोगों के जोरू-स्त्री नहीं हैं, और जमीन जर (रुपया) हमारे पास भी है, इसलिये झगड़े, टंटे, मुकद्दमे होते ही रहते हैं। मेरे गुरु महाराज विद्वान् थे उनके स्थान की जागीर की आमदनी एक लाख रुपये वार्षिक है, मेरी वृत्ति साधुओं की तरफ देख कर मेरे पिता ने यह सोच कर कि आचार्य का प्रथम शिष्य होने से मेरा पुत्र श्रीमान् हो जायगा,

मुझे आचार्य का त्यागी प्रथम शिष्य बना दिया। मैंने आचार्य गुरु जी से विद्या पढ़ी। एक समय गुरुजी ने एक बात के निमित्त मुझे शासन किया यानी दंड दिया। वैराग्य के उफान में मैं गुरु की आज्ञा लेकर, सब पदार्थों का त्याग करके एक कोपीन धारण कर विचरने निकल पड़ा। वैराग्य वृत्ति में तीन चार साल घूमता रहा। इस अवस्था में मैं धन को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था, छूता भी न था। जो कोई मुझे दो चार आने देने लगता तो मैं धन और धन के देने वाले दोनों को तिरस्कार करता था। जिस वैराग्य का मैं वर्णन कर रहा हूं वह सच्चा वैराग्य न था। थोड़े दिन पीछे झूठा वैराग्य भी न रहा और मैं धन का संग्रह करने लगा। बाल्यावस्था में साधु होने से संसारी सुख नहीं देखा था, इसलिये संचित धन का इन्द्रियों के विषय भोग के निमित्त उपयोग करने लगा। कभी किसी स्थान पर और कभी किसी स्थान पर रहकर ऊपर से त्यागी दीखता हुआ वस्तुरूप से मैं रागी रहा। अनेक प्रकार के अपलक्षण मुझमें आ गये। ऐसी अवस्था में अपने स्थान पर किस प्रकार जा सकूं और गुरुदेव के सामने मेरा रहना किस प्रकार हो ? इस प्रकार बारह वर्ष व्यतीत हो गये। स्थान छोड़े पंद्रह वर्ष बीत गये। एक समय एक साधु से मेरी भेंट हुई, उसकी बात चीत से मालूम हुआ कि वह मेरे स्थान के समीप का रहने वाला है। मैंने उससे गुरुदेव का समाचार पूछा उसने कहा 'कोई चौदह वर्ष हुए, उनका शरीर पंचतत्त्व को प्राप्त हो गया। उनका बड़ा शिष्य वहां था नहीं। सब सेवकों और ग्राम

के प्रतिष्ठित पुरुषों ने उसकी खोज की परन्तु पता न लगा तब उन्होंने वहां ही रहने वाले महाराज के भोजन बनाने वाले को गद्दी का मालिक कर दिया। वह भी समाप्त हो गया अब उसका एक शिष्य वहां की गद्दी पर विराजमान है। वह धर्मात्मा है और पांच वर्ष से आचार्य है।' फिर मैंने उससे अपने पिता माता का हाल पूछा तो उसने कहा 'वे दोनों मर गये हैं। जब बड़े आचार्य मरे और उनका लड़का जो गद्दी का मालिक था, न मिला और दूसरा मालिक हो गया तब उन्होंने कल्पान्त करते हुए अपने प्राण छोड़ दिये। यह समाचार सुनकर मैंने स्थान पर जाने का निश्चय किया और कुछ दिनों में मैं वहां पहुंचा। मुझे स्थान का मालिक होने वाला समझ कर स्थान के कर्मचारियों ने भीतर न जाने दिया। एक सामान्य साधु के समान भोजन का सत्कार कर दिया। मैं वहां से दो कोश पर एक ग्राम में टिक कर 'मैं स्थान का सच्चा मालिक हूँ' ऐसा प्रकट करने लगा। बहुत से पुराने मनुष्य मर चुके थे, नये २ मनुष्य मुझे पहचानते न थे। वर्तमान आचार्य का पक्ष लोगों और सरकार में बढ़ गया था। मैंने विद्या के प्रभाव से थोड़े से अनुयायी बना कर एक छोटा सा स्थान तैयार किया और उसमें ठाकुर जी स्थापित किये। फिर मैं बम्बई और कलकत्ते जा कर वहां के श्रीमानों से कुछ रुपया लाया और 'आचार्य की गद्दी का मैं मालिक हूं, जमीन, जागीर और स्थान मेरे आधीन होना चाहिये' इस बात की मैंने अदालत में नालिश की। दावा भारी होने से अनेक मनुष्य मेरी और प्रतिपक्षी की तरफ से साक्षी देने आ चुके हैं। पांच साल तक

मुकद्मा चलता रहा, पच्चीस हजार से विशेष रुपया खर्च हुआ, अच्छे २ शहरों में से मांग जांच कर और उपदेश के सहारे रुपया आया और मुकदमे में खर्च हुआ। अंत में मेरा दावा खारिज हो गया और प्रतिपक्षी के खर्च की डिगरी मेरे ऊपर हो गई। मेरे पास देने को क्या धरा था। हार जाने से मैं रुका नहीं, ऊपर की अदालत में अपील की। कोई तीस हजार रुपया उसमें भी खर्च हुआ। गदहे के समान मेरा हाल था, बड़े बड़े शहरों में से धन ढो ढो कर लाता था और सब अदालत में स्वाहा हो जाता था। अंत में उसमें भी मैं हार गया। फिर मैंने उससे भी ऊँची अदालत में अपील की। वह अभी चल रही है, पचास हजार रुपया अब तक खर्च हो चुका है और इतना ही और खर्च होना सम्भव है। मुझ में जो धन की तृष्णा तुझ को दीखती है वह मुकदमे के कारण है। अब मुकदमा छोड़ देना भी नहीं बन सकता। इतना रुपया खर्च कर के बिना फल प्राप्त किये रुक जाना अच्छा नहीं है। लोगों में हंसी होगी, स्थान भी नहीं मिलेगा, किया हुआ सब खर्चा और मेरा पचीस वर्ष का श्रम व्यर्थ जायगा।' इस प्रकार की आचार्य की बातें सुन कर मैं स्तब्ध हो गया, हां जी ! हां जी ! करता रहा। उसको बुरा न लगे यह सोच कर मैंने दो तीन दिन तक उसके पास जाकर पश्चात् जाना छोड़ दिया, जिस इच्छा से मैं उसके पास गया था वह मेरी इच्छा पूर्ण हुई। मैंने उसका आंतरिक भाव जान लिया, मुझे मालूम हो गया कि ऊपर से आचार्य बने

हुए हैं भीतर स्थानासक्ति रूप अग्नि दिन रात लग रहा है, यह सुखी नहीं है।

अब मैंने सोचा 'यहां तो मैंने अच्छी प्रकार देख लिया, इस स्थान पर मुझे कोई सुखी नहीं दिखाई दिया। यहां न सही! कदाचित् किसी और देश में कोई सुखी मिल जाय इसलिये और देश देखना चाहिये।' आज कल मुम्बई नगरी इन्द्रपुरी की शोभा को प्राप्त होरही है, ऐसा विचार कर मैं वहां गया। वहां की बाहर की शोभा देख कर मैं चकित होगया! एक धर्मशाला में निवास करके प्रातः संध्या बाजार आदिक में जाकर मनुष्यों का वर्ताव देखने लगा। मैंने देखा कि सब मनुष्य परतंत्रता के वश हो रहे हैं। जल लेने में परतंत्रता, दीपक बत्ती में परतंत्रता, रस्ते चलने में परतंत्रता। और क्या देखा कि बड़े बड़े साहूकारों का शरीर फूला हुआ है, अंडकोश बढ़ गये हैं, जहां देखो वहां प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति फैल रही है, किसी में शान्ति देखने में न आई। टट्टी जाने में पूरा नरक का अनुभव हुआ। ऐसी दुर्गंध और गंदगी अपनी उमर भर मैंने नहीं देखी थी। वहां भी परतंत्रता! लोटा हाथ में लिये हुए जब पाव घंटा, आधा घंटा जाजरूर देवी की उपासना की जाय तब जाजरूर देवी-नरक द्वार खुले। यदि तब भी नम्बर न आया हो तो और तपश्चर्या करनी पड़े। कष्ट! हाय कष्ट! यहां सुख कहां? यहां सुखी कौन? घृणायुक्त होकर, मुम्बई पुरी को नमस्कार करके मैं मदरास पहुंचा। वहां पहुंचते ही प्रथम यह आपत्ति पड़ी कि वहां की भाषा समझने में न

आवे, गुर गुर गुर करें, जिसको देखूं वह ही काला भुजंग दिखाई दे। क्या स्त्री, क्या पुरुष, सब के शरीर में नारियल के तेल की बुरी वास मारे। इमली का पना और चांवल भोजन! बात चीत का स्थान कोई नहीं। यह सोचकर कि देवल में शान्ति होगी मैं वहां गया तो दो तीन देवी के स्थान ऐसे देखने में आये कि जो कसाइयों के हलाल करने के स्थान से भी अधिक गंदे और घृणा उत्पन्न कराने वाले थे। मद्रास भी सुख का स्थान नहीं है यह सोच कर मैं सीधा सेतुबन्ध रामेश्वर पहुंचा। यह तीर्थ स्थान है, यहां के पंड्याओं के प्रपंच, खेंचातानी का क्या पूछना? वालू ही वालू देखने में आवे रमणीक स्थान कोई नहीं, हवा पानी भी अच्छा नहीं, सिवाय मंदिर के सब स्थानों पर खारी पानी, दूध तक निमकीन। वहां से भी भाग निकला। सिंगलद्वीप--कोलम्बो का रास्ता लिया, दो दो डाक्टरों की तलाशी के पश्चात् जहाज़ में बैठने पाया। जहाज़ में कुली लोग बच्चों कच्चों सहित भर रहे थे, वह कोलाहल मचा कि कान बहरे होगये। थोड़ी देर में लंगर उठा और जहाज़ चल पड़ा। बैठने वालों के मस्तक में चक्कर आने लगे, थोड़े मनुष्यों के सिवाय सब को कै पर कै होने लगी जहाज़ ऊंचा नीचा हो जाया करे! जहाज़ के किनारे के भीतर ही सब कै करें। कै की छींटें और जहाज़ हिलने से पानी की छींटें बैठे हुओं पर पड़ें! हाय नरक और क्या होगा? ऐसा ही होगा! राम राम करके इधर उधर खिसकता हुआ महा कष्ट से रात व्यतीत की। दूसरे दिन दोपहर को कोलम्बो में उतर वहां से पूछता २ तामिल धर्मशाला में

पहुंचा। वहां के कष्ट का क्या वर्णन किया जाय तामिल लोगों के साथ रहना महा घृणा युक्त था। मुम्बई की जाजरूर की समान वहां भी नरकवास था। दुकान पर चीजा वस्तु लेने गया तो क्या देखता हूँ कि चांवलों के साथ मछलियां रक्खी हैं चांवल की टोकरी में भी मछली पड़ी हुई है! क्या वस्तु लूं! कैसे बनाऊं? कैसे खाऊं? जो वस्तु लेना चाहूँ वही घृणायुक्त वस्तु के साथ में रक्खी हुई। मेरा भाग्य अच्छा था, एक हिन्दुस्तानी की दुकान मिल गई वहां से दाल, चांवल, आटा और मसाला खरीद कर, लकड़ियां ले कर धर्मशाला में आया। अब रसोई बने किस प्रकार? वहां के कर्मचारी ने दया करके एक कोठरी दे दी थी। वह इतनी गंदी थी कि दिन भर उसके साफ करने में ही लग गया। थोड़ा दूध पीकर वह दिन काट दिया दूसरे दिन रसोई बनाई। तीसरे दिन मैं शहर का निरीक्षण करने निकला, सड़क ऊपर से अच्छी दीखती थी उसके एक तरफ एक मनुष्य हाथ में पेशाव करते हुए दिखाई दिया, उसने पेशाव करके सड़क पर छिड़क दिया। मैं घृणा सहित आश्चर्य करने लगा। छोटे कदके मनुष्य, काले २ रंग के लुंगी का कपड़ा बांधे हुए, अच्छी प्रकार देखे विना स्त्री पुरुष का भेद भी नहीं मालूम पड़ता था, शरीर में नारियल की गंध, शिर पर राक्षसों के समान दो नोक निकली हुई हड्डी! पुरुष और स्त्री दोनों एक ही प्रकार के, भाषा विलक्षण, वहां भी सुख और सुखी होना असम्भव जान कर मैं वहां से चल दिया और मार्ग में अनेक स्थान देखता हुआ द्वारिका पहुंचा। तीर्थ स्थान बिगड़े हुए हैं, पूर्व के से नहीं हैं। प्रथमसे ही

मुझे प्रेम न था, द्वारिका में सुखी और सुख का स्थान मेरी इच्छानुसार देखने में न आया। वहां से चल कर मैं मथुरा पहुंचा, वहां की भी लीला देखी। वहां से चल कर बद्रीनारायण के मार्ग में पहुंचा! वहां के जल ने मुझे बीमार कर दिया पहाड़ों पर चढ़ने उतरने से मेरा दम फूलने लगा, आवश्यक वस्तु मिले नहीं, सरदी का बड़ा जोर, राम २ करके वहां से भी लौटा। फिर कशमीर में आया। वहां का नियम है कि मजदूर को मजदूरी करने के दाम प्रथम दिये जाते हैं। शहर में जाने को एक इक्का किराया किया जब संपूर्ण किराया दे दिया तब इक्के में बैठने पाया। लोग वहां के बदमाश हैं, देश इतना ठंडा है कि शीतकाल में दो दो महीने तक घर में से निकला नहीं जाता, घर में बैठे २ अंगीठी में आग जला कर दिन व्यतीत किया जाता है। बड़े बड़े लम्बे चौड़े एक एक थान के झंगे होते हैं और लोगों को कशमीर भले अच्छा लगता होगा, मैं तो शीत और मच्छर आदिक का जोर देख कर वहां से भागा। कशमीर में मुझे सुख स्थान नहीं मिला। फिर मैं घूमता २ काशीजी पहुँचा यह शिवजी की पुरी कहलाती है। काशी के गुन्डे प्रसिद्ध हैं! उनकी चालाकी से मैं बचता रहा। संन्यास रूप धारण करके मैंने उनकी अनेक प्रकार की ठग विद्या देखी जिनका वर्णन करने में कई ग्रन्थ बन जांय। छोटी २ गलियां, अंधेरी सीढ़ियां, विधवा स्त्रियां और सांड का उपद्रव! गंगा किनारे के लाखों रुपये के घाट टेढ़े होने से काशी की शोभा टेढ़ी कर रहे हैं। सच कहा है:—रांड, सांड, सीढ़ी, संन्यासी; इनसे बचे सो सेवे काशी। पंडाओं की तंगी यात्रियों

में अश्रद्धा उत्पन्न करती है ! अनेक रीति से देखा काशी में कहीं सुख नहीं पाया ! अयोध्याजी में जहां देव मन्दिर हैं वहां चढ़ोत्री चढ़ाने में यात्री फंसाये जाते हैं और दलाल साथ लगे होते हैं। देवता की चढ़ोत्री में से दलाली खाते हैं प्रयाग देखा। गयाजी के मूर्ख पंडाओं की लीला ने हद करदी। इस प्रकार मैं सब स्थानों में घूमा हूँ परन्तु किसी स्थान में मुझे शान्ति नहीं मिली, मुझे कोई सुखी नहीं मिला, सुख क्या है और कहां है यह भी जानने में न आया। सुख की ही खोज में मैं आपके पास आया हूं यदि आप इस विषय में कुछ जानते हों तो सेवक को बता कर अनुग्रहीत कीजिये। संसार में तो मुझे सुख मिला नहीं कदाचित् संसार से बाहर सुख होगा तो संसार से अतिरिक्त वह कौन सा स्थान है, कृपा कर बताइये।"

संत ने पथिक का वृत्तान्त ध्यान देकर श्रवण किया। फिर वे इस प्रकार बोले "तूने जो वर्णन किया वह ठीक है। तू जहां जहां सुख की खोज कर चुका है वहां सुख नहीं है तेरे समान एक देवदूत ने भी इसी प्रकार खोज की थी और वह भी निराश हुआ था। तू मनुष्य है, वह देवदूत था। देवदूत विशेष सामर्थ्य वाले होते हैं वे सब लोकों में आ जा सकते हैं और भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों को एक समय में प्रत्यक्ष कर सकते हैं, उसने सब स्थानों पर घूम कर जो सुख की खोज की थी उसका वृत्तांत देवदूत प्रवास नामक एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा गया है। उस ग्रन्थ को सूक्ष्म दृष्टि वाले ही पढ़ सकते हैं, मेरे गुरुदेव ने उस ग्रन्थ के कई पत्र पढ़े थे, उनकी

स्मृति से मैंने थोड़ी नकल कर ली है वह मेरे पास है, उसे मैं तुझको देता हूं तू उसको पढ, वह भी तेरी बात पुष्ट करता है ।"
ऐसा कह कर संत ने एक छोटी सी पुस्तक पथिक को दी वह उसको पढ़ने लगाः—राजा कर्ण दान करने में सब से श्रेष्ठ है ऐसा जानकर देवदूत उसके पास गया। राजा कर्ण सुवर्ण दान देने लगा परन्तु देवदूत ने न लिया और दान प्रतिज्ञा में एक बात पूछने को कहा। राजा ने स्वीकार कर लिया। देवदूत ने कहा "राजन्! तू सब प्रकार सुखी है या नहीं?" कर्ण ने कहा "हे महाशय! मैं सुखी नहीं हूँ, लोग मुझे सूत कहते हैं इससे मैं लज्जा को प्राप्त होता हूँ, सूत शब्द मुझे बहुत बुरा लगता है, अन्य सब सुख ऐश्वर्य और पराक्रम होते हुए भी सूत शब्द सुन कर मैं रात दिन जला करता हूं। मैं सूत हूं या नहीं यह मैं नहीं जानता।"
एक बार देवदूत ने विश्वामित्र से पूछा "हे तपस्वी आप पराक्रमी हैं आप अवश्य सुखी होंगे।" विश्वामित्र ने कहा "हे देवदूत! मैं वास्तविक सुखी नहीं हूँ, वसिष्ठजी मुझसे राजर्षि कहा करते हैं इसलिये मैं रात दिन चिन्ताग्रस्त होकर जला करता हूं।" इसी प्रकार देवदूत ने राजा शांतनु से पूछा "आप ऐश्वर्य सम्पन्न चक्रवर्ती धर्मात्मा हैं, आप अवश्य सुखी होंगे?" शांतनु ने कहा "मैं सुखी नहीं हूँ, रूप से मोहित होकर मैंने एक अनजान स्त्री से संगति करनी चाही, उसने मुझसे प्रथम कई प्रतिज्ञायें करालीं वह हत्यारी है, मैं उसे रोक नहीं सकता, मेरे समान संसार में दूसरा दुखी न होगा!" यह ही प्रश्न जब देवदूत ने पांडु से किया तब उसने कहा "हे देवदूत! तू जानता है कि शाप के कारण मैं

पुरुषत्व का उपयोग नहीं कर सकता, दोनों स्वरूपवती तथा गुण-वती स्त्रियां होते हुए भी मैं उनसे पृथक् रहता हूँ, मैं अत्यन्त दुखी हूं।" भीम से पूछा गया तब भीम ने कहा "द्रौपदी के चीर खींचने के कारण दुर्योधन मुझे शत्रु समान दीखता है, मैं उसे मार डालना चाहता हूँ परन्तु राजा युधिष्ठर की आज्ञा न होने से अन्तरमें अत्यन्त दुखी रहता हूँ।" इन्द्रसे पूछागया तब वह बोला "बारम्बार दैत्यों से लड़ना पड़ता है जब कोई तपस्वी महान् तप करता है तब मैं जलता रहता हूँ, कोई बलिष्ठ होकर मुझे पदभ्रष्ट न करदे इसकी चिन्ता निशिदिन मुझे जलाती रहती है।"इसी प्रकार शुक्राचार्य ने कहा "मैं विद्वान् हूँ, मृत संजीवनी विद्या जानता हूँ, परन्तु सुखी नहीं हूँ, मैं देवलोक में विचर नहीं सकता, मेरी पुत्री का कोई ब्राह्मण विवाह नहीं करता।" बृहस्पति ने कहा "मैं एक अयोग्य शिष्य का गुरु हूँ, चन्द्र मेरी स्त्री को ले गया, मैं उसे फिर लौटा लाया, इस प्रकार के लांछन से मैं दुखी हूं। शुक्राचार्य की विद्या के समान मेरी विद्या और सामर्थ्य काम नहीं देती, मैं इन्द्र का गुरु होने से भी दुखी हूँ" ब्रह्मा ने कहा "मैं सृष्टिकर्ता हूं, तो भी शाप वश मेरी प्रतिमाका पूजन नहीं होता। जगत् का पालन और संहार मेरे हाथ में न होने से स्वार्थी लोग मुझे तुच्छ समझते हैं, मेरी बुद्धि में विकार हो जाने से मैं अपनी पुत्री पर मोहित होकर उसके पीछे दौड़ा, इस कलंक के दोष से मैं नित्य दुखी रहता हूँ।" राजा हरिश्चन्द्र ने कहा "लोग मेरी प्रशंसा भले ही किया करें परन्तु मैंने जो जो कष्ट सहे हैं उनका जब विचार आता है तब रोमांच खड़े हो जाते हैं, मैं

इतना कर्महीन हो गया कि पुत्र और स्त्री की भी रक्षा न कर सका, मेरे निमित्त विश्वामित्र को अति परिश्रम उठाना पड़ा, यह इतिहास मेरे सामने से कभी नहीं हटता । भला मैं किस प्रकार सुखी हो सकता हूँ ।" भीष्म ने कहा "मैं संसार में रहता हूँ, मेरा शरीर संसारी है, जैसे विकार और शरीरों में होते हैं वैसे ही मेरे शरीरमें भी हैं, पिताके मोहके कारण मैंने व्याह न करनेकी प्रतिज्ञा की, इसलिये मैं राज्य और विवाह नहीं कर सकता । इन कारणों से मैं हमेशा दुखी रहता हूँ । मैं विद्वान् होकर भी कौरवों का पक्ष ग्रहण करने से दुःखी रहता हूँ, वास्तविक मैं बहुत दुखी हूँ ।" जब उपरोक्त सब में से किसी ने अपने को सुखी न बताया तब देवदूत ने विचार किया :"वसिष्ठजी को मैंने स्वयम् अपने पुत्र के पीछे रोते हुए देखा है, आपघात करने को तैयार थे । विश्वामित्र की शत्रुता ने उनकी सब संतति का नाश कर दिया इसलिये वे भी सुखी नहीं हैं । रामचन्द्रजी की तरफ देखता हूँ तो मेरी दृष्टि में वे भी सुखी नहीं हैं । अपर माता के वचन से वन वास भोगना पड़ा, राजकुमार होकर वन २ घूम कर कष्ट उठाना उनके शोक में उनके पिता का मरण होना, सीता को रावण का चुरा ले जाना, सीता के लाने के लिये बन्दरों से मित्रता करना परिश्रमसे सीताको लाकर फिर वनमें भेज देना, इत्यादिक वृत्तांत से प्रकट होता है कि वे अनंत दुखी हैं एक धोबी के कहने से सीताजी को वन में भेज देने का कलंक अब तक जगतमें प्रसिद्ध है । श्री कृष्णजीकी लीलायें भले अपरम्पार हों परन्तु मैं तो उन्हें सुखी नहीं समझता । जन्म होते ही माता पिताको

छोड़ कर भागना पड़ा, अहीर के घर बड़ा होना, गोपियों का दधि दूध चुरा कर खाना, अनेक राक्षसों का उपद्रव, इन्द्र और ब्रह्मा का उपद्रव, जरासिंधु से हार कर भागना, मथुरा छोड़ कर द्वारिका में भाग कर जाना ये सब दुख ही हैं। जब कि एक दो स्त्रियों से ही दुख होता है तब जिसके सौलह हजार एक सौ आठ स्त्रियां हों और उनका विस्तार हो वह किस प्रकार सुखी रह सकता है ? चाहे लोग उनको ईश्वर समझ कर भक्ति के कारण उनमें दुख न मानें परन्तु मैं तो उन्हें दुखी ही समझता हूँ। इस प्रकार मैंने ब्रह्माण्ड भर में किसी से मिल कर और किसी का अनुमान करके देखा तो सब दुखी निकले। इस प्रकार निश्चय होने से मैं प्रजापति के पास गया और उनके सदुपदेश से मुझे शान्ति प्राप्त हुई।"

जब पथिक इस प्रकार पढ़ चुका तब संत ने कहा, "देख ! इस प्रकार जैसा तूने निर्णय किया है वैसा ही देवदूत ने किया था। अब मैं जो कहता हूँ उसे समझः—सुख आत्म तत्त्व है। आत्मा सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। सुख आत्मा में है। सुख का स्थान स्वयं तू है। सुखी भी तू ही है।" पथिक ने कहा, "आपके वचन तो अत्यन्त आश्चर्य जनक हैं। मैं सुख रूप सुखी आदिक किस प्रकार हूँ ? जो मैं सुख रूप ही होता तो अनेक प्रकार के कष्ट कैसे भोगता ? भगवन् ! आप मुझे ठीक रीति से समझाइये।" संत ने कहा, "जैसा मैं कहता हूँ उसी प्रकार है। तू अपने को जानता नहीं है इसलिये अपने को सुखी भी नहीं समझ सकता।" पथिक ने कहा, "महाराज !

दूसरे को मैं न जानूं ऐसा तो हो सकता है परन्तु आपका कहना तो यह है कि तू अपने आपको नहीं जानता। यह किस प्रकार बने ?" संत ने कहा, "तुझे माया के कारण से ऐसा भान होता है। जो मैं तुझ से पूछूं कि तू कौन है तो तू कहेगा कि मैं अमुक गोत्र वाला, अमुक नाम वाला, अमुक ग्राम में रहने वाला, अमुक का पुत्र आदिक हूं। परन्तु तू विचार कर कि तेरा गोत्र जन्म होने से प्रथम का नहीं है, तेरा नाम भी जन्म के पश्चात् लोगों का रक्खा हुआ है। ग्राम भी जन्म होने से प्राप्त हुआ है। पिता पुत्र के सम्बन्ध की संज्ञा भी पीछे की कल्पित है। तब तूने जो अपनी संज्ञा बताई वह तू नहीं है। परन्तु जिसमें उपाधि रूप से ये सब संज्ञायें पीछे से प्राप्त हुई है वह तू है। तेरा शरीर भी इस जगत् का है। अब सोच कि तू कौन है ?" पथिक ने कहा, "भगवन्। ऐसे विचारने से तो मैं कुछ भी न रहा। देश काल और स्थान के परिच्छिन्न भाव को हटाने के पश्चात् क्या रहा ? कुछ भी न रहा।" संत ने कहा, "यह तू नहीं जानता कि क्या रहा ? जो शेष रहा है वह ही तू आत्म स्वरूप है। तुझे एक महान् धोखा हो गया है। जब तक वह धोखा निवृत्त न होगा तब तक तू अपने को नहीं जान सकता। तेरी बुद्धि मायिक भाव में होने से समझने को अशक्त है। तू कहता है कि कुछ न रहा। यह असम्भव है! यह सब नाम, रूप, प्रपंच जो दीख रहा है वह किसी अधिष्ठान विना नहीं दीख सकता। इन सबका अधिष्ठान रूप तू है। जो तू अपने को पहचानना चाहे तो शास्त्रों में जो अध्यात्म विद्या के शास्त्र हैं

इनमें इस विद्या के जानने योग्य अधिकारी के जो लक्षण बताये हैं उन लक्षणों वाला अधिकारी होकर जब तू यथार्थ मुमुक्षु होगा तब तुझको सद्उपदेश से ज्ञात हो जायगा कि तेरे सिवाय और कोई सुख स्वरूप नहीं है। माया में भी किसी २ कार्य में सुख का भान होता है, किंतु उन सब का भंडार तू ही है।

अधिक पाप का होना मल दोष है और अत्यंत चंचलता विक्षेप दोष है, ये दोनों दोष जिसके बहुत अंश में निवृत्त हुए हैं और आवरण दोष को ही निवृत्त करना जिसे शेष है ऐसा पुरुष ज्ञान का अधिकारी हो सकता है, ऐसे अधिकारी के मुख्य चार लक्षण हैं:-- १ विवेक २ वैराग्य ३ षट् सम्पत्ति और ४ मोक्षेच्छा। उसमें आत्म स्वरूप को ही नित्य तथा और सब को अनित्य जानना विवेक है। इस लोक तथा परलोक के सम्पूर्ण भोगों की इच्छा के त्याग का नाम वैराग्य है (यहां इच्छा शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये)। शम आदि षट् सम्पत्ति हैं, उसमें सर्व वासना के त्याग को शम कहते हैं, शब्दादि इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों के रोकने को दम कहते हैं, संसार के सर्व प्रपंच से निवृत्ति का नाम उपरति है। शीतोष्ण, सुख दुःख, मान अपमान आदि द्वन्द्व धर्मों को सहन करने का नाम तितिक्षा है, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु तथा वेदान्त वाक्य में विश्वास को श्रद्धा कहते हैं और चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं। संसार बंधन से मुक्त होने की इच्छा को मोक्षेच्छा कहते हैं।

इस प्रकार का अधिकारी वा सच्चा मुमुक्षु, आत्म अनात्म का विवेक करके शरीर के पञ्चकोशादि में आत्मा के भ्रम को दूर करके सच्चा सुख वा शांति पा सकता है। यह भ्रम ही सारी अशांति का मूल है। इस भ्रम को मिटा कर तथा सत्य स्वरूप ब्रह्म को जान कर ही सब दुःख और बन्धनों से छूट जाते हैं, जन्म और मृत्यु से तर जाते हैं तथा ज्ञान से परमपद को पाते हैं। अतः अब आत्मा क्या है, माया क्या है, शरीरादि पञ्च कोश क्या हैं इन सब को विस्तार पूर्वक समझाते हैं।
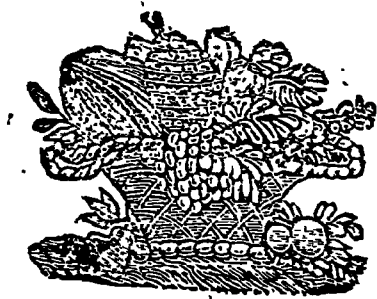
आत्मा।

आत्मा शब्द उच्चारण करते हुए, आत्मा क्या है लोग ठीक २ रीति से नहीं समझते। शास्त्रों में भी आत्मा का प्रयोग प्रसंगानुसार शरीर पर, मन पर, जीव पर और कूटस्थ पर हुआ है तब इन चारों में से वास्तविक आत्मा कौन है? अथवा इन चारों से आत्मा भिन्न है? इन चारों में आपस में क्या अन्तर है? उनमें किस प्रकार का संबंध अथवा अंश है, अथवा सब भिन्न २ हैं, इसको विचारे विना आत्मा समझ में नहीं आ सकता। आत्मा शब्द का अर्थ स्वयं-आप है। जो जैसे भाव से युक्त होता है, अपने को जैसा समझता है, वैसा ही आत्मा का अर्थ करता है, उसको ही आत्मरूप वस्तु जानता है। शास्त्रों में भी प्रसंगानुसार तथा अधिकारी भेद से आत्म शब्द का भिन्न २ अर्थ का उपयोग किया है; इसलिये शरीर, मन, जीव और कूटस्थ पर्यायवाचक शब्द नहीं हैं और चारों भिन्न भिन्न भी नहीं हैं। चारों में तत्त्व एक ही है और चारों की उपाधियां भिन्न २ हैं। इसलिये उपाधि सहित चारों भिन्न २ हैं और उपाधियों का बाध करने से शुद्ध तत्त्व स्वरुप से एक ही हैं। आत्मा ब्रह्म है और शरीर, मन, जीव और कूटस्थ उसी के प्रकाश से है। आत्मा ब्रह्म स्वरूप है, इसलिये सब में व्यापक है। व्यापक और व्याप्य भाव द्वैत में होता है तो भी उपदेश के अर्थ कथन किया जाता है। उपदेश में द्वैत होता है इसलिये आत्मा को व्यापक और उसकी व्यापकता माया में समझो। माया के एक शरीर में जिस आत्मा की व्यापकता

समझी जाती है, उसे कूटस्थ कहते हैं। आत्मा सर्वत्र व्यापक है और कूटस्थ एक शरीर में व्यापक है इतनी आत्मा और कूटस्थ की भिन्नता समझो। आत्मा की सर्व व्यापकता छोड़ कर उसे शुद्ध समझते हैं और कूटस्थ की शरीर व्यापकता छोड़ कर शुद्ध समझा जाता है। इस प्रकार कूटस्थ आत्मा है-कूटस्थ और आत्मा तत्त्व से एक ही हैं। कूटस्थ की विशेषता अन्तःकरण में मालूम होती है, अन्तःकरण अंगुष्ठ प्रमाण का है इसलिये आत्मा को भी उपासना करने वालों के लिये अंगुष्ठ प्रमाण का कहा है। अन्तःकरण माया के सतोगुण का कार्य है, इसलिये निर्मल है, वहां रहने वाले कूटस्थ का उसमें ही भास पड़ता है। कूटस्थ वाला सामान्य चैतन्य, अन्तःकरण और उसमें पड़ा हुआ आभास, ये तीन मिल कर जीव कहा जाता है। जीव में जो विशेष चैतन्यता है, वह विकारी, उत्पत्ति नाश वाली और अज्ञान का कार्य है। जीव की सब उपाधियां छोड़ कर जो सामान्य चैतन्य शेष रहता है, वह ही कूटस्थ है, इसलिये उपाधि छोड़ कर जीव का शुद्ध तत्त्व और आत्मा एक ही है। अन्तःकरण की वृत्ति में जो विशेष चैतन्य है, वह मन कहलाता है, उसकी विशेषता छोड़ कर जो शेष रहता है वह ही आत्म तत्त्व है। अंतःकरण की अहं आदि वृत्तियां शरीर में व्यापक हैं इसलिये शरीर चैतन्यता वाला हो कर चेष्टा करता है। शरीर की विशेष चैतन्यता और जड़ता दोनों को त्याग कर जो तत्त्व शेष रहता है वह आत्म तत्त्व है। शरीर को अहंभाव से अपना कहते हैं किन्तु उसमें रहने वाली शुद्धता-समानता आत्मा है। तात्पर्य यह है कि शरीर में, मन में,

जीव में, और कूटस्थ में रहने वाला सामान्य चैतन्य एक ही है, वह ही आत्मा है और वह ही परब्रह्म है। इन चारों के नाम, रूप, उपाधि और भाव में अन्तर है, उपाधि रहित चारों एक ही हैं। इन चारों के विवेक से मोक्ष की प्राप्ति होती है, जो शुद्ध स्वरूप है।

जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र व्यापक है, उस प्रकाश को परब्रह्म रूप समझो। एक कांच पर पड़े हुए सामान्य प्रकाश को कांच पर पड़ने से विशेष प्रकाश समझो, विशेष प्रकाश टुकड़ा हुआ। उस विशेष प्रकाश में रहने वाली सामान्यता कूटस्थ है। कांच का टुकड़ा, उसमें पड़ा हुआ विशेष प्रकाश और विशेष में रहने वाला सामान्य प्रकाश, ये तीनों मिल कर जीव कहलाता है। कांच के टुकड़े में चार पहलू हैं, उनमें से एक पहलू मन है, उसमें जीव के विशेष प्रकाश की जो वृत्ति है उसमें भी सामान्य चैतन्य वही है जो जीव और कूटस्थ में है। इन चारों पहलुओं सहित आभास से प्रकाशित हो कर अप्रकाश वाला शरीर चैतन्य के समान चेष्टा करता है। अप्रकाश वाले स्थूल शरीर में विशेष चैतन्यता जो जीव मन आदिक की है, उसको प्रकाश करके रहने वाला सामान्य चैतन्य आत्मा है। इन चारों की जितनी विशेषता और अपेक्षा रहती है वह सब उपाधि रूप है और अज्ञान से है। उपाधि को त्याग कर आत्म तत्त्व एक, अखंडित, उत्पत्ति नाश रहित, विकार रहित, साक्षी और अधिष्ठान रूप जो तत्त्व है, वह ही आत्मा है।

कोई भी अनात्म आत्म सत्ता से रहित नहीं है, आत्म सत्ता छोड़ कर अनात्म को आत्मा मानना अज्ञान है। इस अज्ञान से देहाध्यास-देह ही आत्मा है यह भाव और जन्म, मरण, दुःखादि होते हैं।

श्रुति की प्रतिज्ञा है कि आत्मा को जानने से परम पद की प्राप्ति होती है। शरीर को आत्मा मानने से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति नहीं होती इसलिये शरीर आत्मा नहीं है। मन विकार वाला-दूसरे की अपेक्षा से प्रकाशित होने वाला है इसलिये आत्मा नहीं है। मन को जानने से परम पद की प्राप्ति नहीं होती। जीव भी विकार भाव संयुक्त और परिच्छिन्न है, सुख, दुःखादिक का भोक्ता है इसलिये वह भी आत्मा नहीं है। जीव को आत्मा मानने से परम पद की प्राप्ति नहीं होती। कूटस्थ का अर्थ माया में टिका हुआ शुद्ध सामान्य चैतन्य है, उसका समझना भी उपाधि रहित होता है। उपाधि रहित आत्मा जब परब्रह्म से एकता को प्राप्त हो तब उस आत्म स्वरूप को जानने से मोक्ष होता है। मायिक सब विकारों को छोड़ कर शुद्धतत्त्व में स्थिति ही आत्म बोध है। जब दृढ़ अपरोक्ष आत्म बोध होता है तब द्वैत भ्रम की निवृत्ति और आत्म स्वरूप की प्राप्ति, स्थिति-मोक्ष होता है। जिसको प्रपंच के दुःखों से अत्यन्त निवृत्त होने की इच्छा हो, उसको इस प्रकार आत्मा और परब्रह्म का अभेद जानना चाहिये।

शंका:—जिस प्रकार का आत्मा तुमने वर्णन किया है, आत्मा के ऐसे होने में क्या प्रमाण है ? तुम्हारे कहने से तो वह जड़ से भी विशेष जड़ मालूम होता है। जड़ में न तो किसी प्रकार का ज्ञान होता है; न वह कोई कार्य कर सकता है, पाषाण के समान होता है। जो आत्मा ऐसा ही है तो उसके जानने से क्या फल होगा ? जो स्वयं ही जड़ और क्रिया रहित है वह हमारा हित किस प्रकार करेगा ? ऐसा वर्णन करते हुए आप उसे चैतन्य किस प्रकार कहते हैं ? तुम्हारे कहे हुए आत्मा की चैतन्यता का अनुभव किस प्रकार हो ? मैं तो यह ही जानता हूँ कि ऐसे आत्मा को जानने से जड़ता के सिवाय और कुछ फल न होगा। हम जो शरीर को आत्मा मानते हैं, अथवा मन या जीव को आत्मा कहते हैं उससे तो फल होता भी है, क्योंकि उसमें जो चैतन्यता है, वह प्रत्यक्ष दीखती है, तब तुम्हारे कहे हुए आत्मा को आत्मा किस प्रकार मानें ? जैसे केले के वृक्ष में कुछ सार नहीं है इसी प्रकार तुम्हारा कहा हुआ आत्मा भी निःसार है।

समाधान:—मैंने जिस आत्मा को समझाया है, उसको किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि जिसको अन्य प्रमाण की आवश्यकता होती है वह अपूर्ण होता है, जो पूर्ण चैतन्य स्वरूप और स्वयं आप है, उसे जानने को दूसरे प्रकाश-प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। मैं तुझसे पूंछता हूँ कि जब तू रात्रि में अंधेरे में सो रहा हो, वहां किसी प्रकार का प्रकाश न हो, तब तू अपने को जानता है या नहीं ? तू है यह तू जानता ही है। यदि

ऐसा जानने को तुझे दीपक की आवश्यकता हो तो आत्मा को जानने के लिये भी अन्य प्रमाण की आवश्यकता हो। जब तू अपने को जानता है तब तू जानने वाला जड़ किस प्रकार हो सकता है। यदि तू 'मैं हूँ' यह जानते हुए भी अपने को जड़ माने तो तेरी मरजी! जो ज्ञान और क्रिया रहित होता है, उसे जड कहना ठीक है। जो भिन्न ज्ञान रहित होकर ज्ञान स्वरूप हो, उसे तू जड़ किस प्रकार कहेगा? ज्ञान दूसरे का होता है, जब आत्मा के सामने अन्य पदार्थ ज्ञान करने को न हो तब वह किसका ज्ञान करे? अपने जानने के लिये ज्ञान की आवश्यकता नहीं है परन्तु भ्रान्ति से उसी ज्ञान स्वरूप से हर एक ज्ञान वाला होता है उसे जड़ किस प्रकार कह सकते है? जिस समुद्र में से सब नदियां जल वाली होती हैं वह समुद्र जल रहित नहीं कहलाता इसी प्रकार जिस ज्ञान स्वरूप आत्मा में से सब को ज्ञान होता है, उसको जड़ कैसे कहें? आत्मा पाषाण समान नहीं है क्योंकि पाषाण परिच्छिन्न है, और पंच भूतों में से विशेष पृथ्वी तत्त्व का कार्य है, आत्मा परिच्छिन्न, या किसी का कार्य नहीं है। जो सब स्थान पर भरा हुआ और सबको चेष्टा कराने वाला हो, वह स्वयं चेष्टा रहित होने पर भी जड़ नहीं है। आत्मस्थिति में अद्वैतता है, आत्मा के सिवाय अन्य नहीं, तब अन्य न होने से चेष्टा कैसे और किसमें करे? चेष्टा अवयवी से होती है, आत्मा एकरस अवयव रहित होने से चेष्टा रहित है। उसको जानने से तू किस प्रकार का फल चाहता है? उसको जानने से सभी प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है। प्रापंचिक जितने फल होते हैं वे भी

उसे न जानते हुए उसी से होते हैं तो उसके जानने से कितना विशेष फल होगा ! आत्मा को जानने से सब प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, यदि तू दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति न चाहता हो तो तेरी खुशी !!! निवृत्ति के बाद जो अलौकिक आनन्द-आनन्द स्वरूप है, वह तुझ जैसे के जानने में नहीं आ सकता। आत्म स्वरूप वाले होकर ही उस आनन्द स्वरूप का अनुभव होता है। जगत् के दुःखों की बाहुल्यता वाला जो किंचित् सुखाभास है उसे छोड़ना न चाहे, उसके लिये आत्मानन्द है ही नहीं आत्मा जड़ चैतन्य से विलक्षण होने से तू उसे चैतन्य समझता है इस प्रकार का चैतन्य आत्मा नहीं है किंतु सब को सत्ता स्फूर्ति देने वाला चैतन्य है। मायिक चैतन्य उस सामान्य का विशेष चैतन्य है, विशेषता, उपाधि जनित होने से विकारी और उत्पत्ति नाश वाली है, ऐसी चैतन्यता वाला आत्मा नहीं है। आत्मा के जानने का फल अखंडित होता है, तू ऐश्वर्य चाहता है, ऐश्वर्य को फल समझता है आत्मा के जानने वालों को सब ऐश्वर्य प्राप्त हों, इस प्रकार का महान् फल होता है। तेरा कहना तो इस प्रकार है:—

एक भिखमंगी को जो ग्राम २ में भटकती और टुकड़े मांग मांग कर खाती थी, एक राजा ने देखा। राजा ने उससे कहा। "चल, मेरे साथ, मैं तुझे अपनी रानी बनाऊंगा !" भिखमंगी बोली "बड़ी खुशी की बात है ! मैं रानी बनने को तैयार हूं परंतु मैं भिखमंगी हूँ इसका नाश हो जायगा ! यदि मेरा भिखमंगी नाम और काम बना रहे तो मैं रानी बन सकती हूँ।"

तू जीव रूप भिखमंगा है, मैं तुझे आत्मस्वरूप राजा बनाना चाहता हूँ, तू अपना जीव भाव और दुःखादिक की गठरियां कहीं चली न जांय, इसका सोच करता है। जैसे भिखमंगी की अपेक्षा रानी को अनंत फल होता है इसी प्रकार आत्मभाव से अनन्त फल होता है। यदि तू कहे कि मैं प्रत्यक्ष देख लूँ, तब इसकी चाह होना संभव है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जब तक तुझे उसे देखने की चाह रहेगी तबतक तू उसे देख न सकेगा और जब देख लेगा तब देखने-भोगने की चाह नहीं होगी। मायिक पदार्थों का प्रत्यक्ष जैसी दृष्टि होती है, वैसा ही होता है। आत्मा से सब प्रत्यक्ष होते हैं, आत्मा को प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। आत्मा का अनुभव आत्मा से ही होता है। जीव की शक्ति आत्मा के जानने की नहीं है।

जिसको तू सार समझ रहा है, ऐसा सब संसार ही असार है। संसार से विलक्षण जो सार है, वह तेरी दृष्टि में असार प्रतीत होता है, यह तेरे अज्ञान का दोष है, आत्मा का नहीं है। संसार विषय रूप विष के टुकड़ों वाला है उसका सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी विष रहित नहीं है। आत्मा अमृत रूप है, अखंड है, और वास्तविक सुख का सार रूप है। जब तक तेरी मायिक दृष्टि न हटेगी तब तक तू उसे सार रूप नहीं समझ सकता। घुग्घू को यदि सूर्य न दीखे तो सूर्य का दोष नहीं है।

जो तुझे प्रपंच में दुःख मालूम होता है तो ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों का आचरण कर और श्रद्धा युक्त सद्गुरु के

शरण में जाकर उससे उपदेश ग्रहण कर, तब आत्म भाव की स्थिति होगी।

एक अगम्य पुरुष था। उसका शरीर बहुत लम्बा चौड़ा था। यदि सारे ब्रह्मांड को नापा जाय तो उसके शरीर का किंचन मात्र हो। उसमें एक तरंग उठी। उठने के साथ ही "मैं तरंग रूप हूँ" वह ऐसा समझने लगा! तरंग अणु रूप थी इसलिये वह अपने को अणु मानने लगा, परंतु उसकी आकृति कुछ न थी। जब वह अणु के भाव वाला हुआ तब "मैं सब दिशाओं में घूम रहा हूं" ऐसा भाव होने लगा। गमनागमन में उसे किसी प्रकार की रोक टोक न थी! वह अणु मानने से अणु रूप नहीं हुआ था। घूमते घूमते उसे संकल्प हुआ कि एक अच्छा सा स्थान हो। तुरन्त ही उसे एक स्थान दिखाई दिया। अपनी इच्छानुसार स्थान देख कर उसने अपने को मैं समझा, जहां जहां परछाईं घूमे वहां वहां "मैं घूमता हूं" ऐसा मानने लगा। प्रथम जो उसने अपने को अणु माना था अब उसी को परछाईं रूप से स्थूल होने का निश्चय किया। निश्चय करते ही वह अल्प हो गया और अपने को तुच्छ समझने लगा। "जिस स्थान में मैं घूम रहा हूँ, वह स्थान किसी महान् ईश्वर का बनाया हुआ है, मैं भी उसी का अंश हूँ, उसका दास हूँ, वह मेरा स्वामी है, मैं उसका सेवक हूँ. मेरा सब कार्य उसी की कृपा से चलता है" अब वह ऐसा समझने लगा। उस स्थान में एक कमरा था, कमरे में कांच लगा था, कांच में एक परछाईं बहुत उत्तम प्रकार से पड़ कर चमकने लगी; उस कांच के चारों तरफ महल

थे और प्रकाश की झांई महल में होकर कांच की चौखट पर पड़ती थी। चौखट उत्तम होने पर भी नव छिद्र वाली थी, छिद्रों में विलक्षण प्रकार के गुण थे और वे कमरे के बाहर प्रकाश करते थे। जिस प्रकार चुम्बक के सामने लोहा चेष्टा करने लगता है, इसी प्रकार परछांई होने से सब छिद्र चेष्टा करते थे। जैसे किसी इञ्जन के चलने से, उसके साथ जुड़े हुए जड़ यंत्र भिन्न भिन्न प्रकार की चेष्टा करने लगते हैं इसी प्रकार वे छिद्र ज्ञान रूप और कर्म रूप चेष्टा करते थे। अब तो अगम्य पुरुष ऐसा मानने लगा कि उन चेष्टाओं का मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूँ। ऐसा मानने से और कामनाओं और राग द्वेष से सुखी दुःखी होने लगा, अनेक प्रकार की कामनायें करने लगा। जो कभी पूर्णकाम था अब कामनाओं का दास बन गया। कामनाओं की पूर्ति न होने से दुखी होने लगा। यदि एक कामना पूर्ण हो जाय तो अनेक प्रकार की और कामनायें करे और दुःख पावे। इस प्रकार उसकी सम्पूर्ण शान्ति चली गई। महल पुराने होकर जब टूट जायँ तब वह समझे कि मैं मर गया। दूसरा कांच देखते ही मानने लगे कि मेरा जन्म हुआ। इस प्रकार जन्म मरण के चक्र में वह अब तक दुःख भोग रहा है। वास्तविक में उसे दुःख कुछ भी नहीं है, उसने अपने को दूसरा समझ लिया है इसलिये वह दुःख का अनुभव करता है। जब कोई विवेकी पुरुष उसे उसकी पूर्व स्मृति–स्वरूप समझा दे और वह इस प्रकार का निश्चय करके साक्षात्कार करे तो जगत् के दुःखों से निवृत्त हो जाय।

अगम्य पुरुष आत्मा है, अज्ञान-अविवेक से दुखी है। शुद्ध अणु कूटस्थ, परछाईं वाला कांच जीव, कांच के चार महल अन्तःकरण, कांच सूक्ष्म शरीर, नव छिद्र इन्द्रियां, और कमरा स्थूल शरीर है। इन सब में आत्मा का सामान्य प्रकाश है। वह ही अखंडित-व्यापक आत्मा है, वह हा परब्रह्म है।

एक मनुष्य के प्रथम स्त्री से दो बच्चे थे, एक लड़की सात वर्ष की और लड़का पांच वर्ष का था। लड़की का नाम बुद्धा और लड़के का नाम खुदीराम था। पश्चात् मनुष्य ने दूसरी स्त्री कर ली। दूसरी स्त्री, छोड़े हुए बच्चों पर ईर्षा के मारे जलने लगी और किसी प्रकार उन्हें निकाल देना और नाश करना चाहने लगी। वह एक भारी मायावी स्त्री थी, पुरुष के मना करने पर भी एक बार रात्रि के समय उन दोनों बच्चों को जंगल में ले गई और वहां छोड़कर चली आई। बच्चों को न देखकर, उनके पिता को बहुत रंज हुआ परन्तु स्त्री वश वह कुछ कर न सका। उस मायावी अपर माता ने जंगल में एक महान् महल बनाया और उसमें बगीचा भी लगाया। प्रभात उठकर खुदीराम ने एक बाग देखा, उसके वृक्षों पर अनेक प्रकार के फल लगे हुए थे, कई नीचे भी गिर गये थे। उनमें से दोनों भाई बहिनों ने इच्छानुसार फल खाये और पास ही एक बावड़ी थी, उसका जल पीकर दोनों तृप्त हो गये। वहां से आगे चलकर एक महल दिखाई दिया, उसमें अनेक प्रकार की मिठाइयां भरी थीं। ऐसा देख दोनों बच्चों ने निश्चय किया कि हम इस महल में रहा करेंगे और मिठाई और फल खाया करेंगे। उस महल में एक राक्षसी थी वह नेत्रों से ठीक

नहीं देख सकती थी परन्तु गन्ध से मनुष्य को पकड़ सकती थी, जो भूला भटका मनुष्य जंगल में आ जाता था, उसको पकड़ कर ले आती थी और उत्तम प्रकार के भोजन दे हृष्ट पुष्ट बनाकर खा जाया करती थी। वह बूढ़ी राक्षसी गंध के सहारे से बच्चों के पास आई और पूछने लगी, "बच्चो! तुम कौन हो? और यहां कैसे आ गये हो?" खुदीराम बहिन से छोटा था परन्तु चालाक होने से उसने कहा-"अपर माता ने हमें बाहर निकाल दिया है।" बूढ़ी बोली "तो अब तुमको घातकी माता के पास जाने की आवश्यकता नहीं है, इस बगीचे में खुशी से रहा करो, अनेक प्रकार के फल और मिठाई खाकर आनन्द करो।" राक्षसी के ऐसे वचन सुनकर बच्चे प्रसन्न हुए और वहां दिन व्यतीत करने लगे।

कितनेक दिन के बाद जहां भाई बहिन सो रहे थे, वहां डोकरी आई और उन्हें सोता जान कर, हाथ फेर कर कहने लगी "अभी बच्चे ही हैं बड़े नहीं हुए हैं, तो भी थोड़े दिन में मैं उनमें से एक को मार कर अपनी तृप्ति करूंगी!" खुदीराम उस समय जाग रहा था, उसने डोकरी के वचन सुन लिये परन्तु वह कर क्या सकता था? सवेरा होते ही डोकरी खुदीराम को बांध कर महल के एक भाग में ले गई और कहने लगी "बच्चे! बांध कर खिलाने से तू जल्दी बड़ा हो जायगा।" जब बहिन जागी तब भाई को न देख कर रुदन करने लगी। और उसने अहार और निद्रा का त्याग कर दिया।

बांध रखने के थोड़े दिन बाद डोकरी खुदीराम को देखने गई और बोली "हे हतभागी लड़के! तू मुझे अपना हाथ दिखा, तू कितना मोटा है?" खुदीराम ने एक पास पड़ी हुई लकड़ी डोकरी के हाथ में देदी। उसे हाथ में लेते ही डोकरी का मिजाज बिगड़ गया और वह गर्जना करके बोली "तू चाहे पतला हो, चाहे मोटा, मैं इसकी परवा नहीं करूंगी! मैं तुझे मार कर खा जाऊंगी!" बुद्धा इतने में आ गई और डोकरी के पैर छूकर कहने लगी "माई! मैं तुझ से विनती करती हूँ, तू भाई से प्रथम मुझको मार डाल!" डोकरी ने कुछ भी न सुना, प्रभात में उसने आग सुलगाई, एक भारी कढ़ाई चूल्हे पर धरी और उसमें तेल डाला। तेल उबलने लगा। बुद्धा और खुदीराम पास बैठे हुए रो रहे थे, परन्तु डोकरी का ध्यान उनकी तरफ न था। उसने बुद्धा से कहा "तेल तैयार हुआ या नहीं? मैं कोमल बच्चे को भली प्रकार भून कर खाना चाहती हूँ।" बुद्धा ने कहा "माई! मुझे क्या मालूम? तेल हुआ या नहीं!" डोकरी ने बुद्धा को बहुत सी गालियां दीं और वह लपक कर कढ़ाई की तरफ चली, बुद्धा ने पीछे से एक ऐसा धक्का मारा कि डोकरी कढ़ाई में गिर गई और भुन गई।

दोनों भाई बहिन महल में सब स्थान ढूंढ़ने लगे, जो कुछ जवाहरात हाथ लगे दोनों ने ले लिये। डोकरी के मरते ही बगीचा अदृश्य होगया। बच्चे धन की मदद से अपने पिता के पास पहुंच गये और सुख पूर्वक रहने लगे।

खुदीराम आत्मा का आभास था, बुद्धा शुद्ध बुद्धि थी, अपर माता प्रवृत्ति रूप वासना थी, जिसने दोनों को निकाल दिया था। प्रवृत्ति रूप वासना ही मायावी डोकरी थी। डोकरी के मरते ही अपर माता मर गई। बगीचा और महल संसार था, चिदाभास और बुद्धि उसे देख कर प्रसन्न हुए थे। विषय बगीचे के फल थे जब बुद्धा की चातुरी से प्रवृत्ति रूप वासना का नाश हुआ तब चिदाभास और बुद्धा अपने पिता आत्मा से मिलकर सुखी हुए प्रपंच से मोक्ष को प्राप्त हुए।

आत्मा के वे ही लक्षण हैं जो लक्षण शास्त्रों में परब्रह्म के कहे हैं। आत्मभाव के हटने से-स्वस्वरूप के अज्ञान से, प्रवृत्ति-माया के बाग में विहार करने से अनेक प्रकार के कष्ट न होते हुए भी आत्मा में जान पड़ते हैं। जब आत्मा के सच्चे स्वरूप में स्थिति होती है तब अनादि माया रूप डोकरी का नाश होता है और तब ही परमानन्द स्वरूप में स्थिति होती है।

माया।

बहुत मनुष्य इस प्रकार कहते हुए सुने जाते हैं:—"जगत् जाल है, संसार माया का प्रपंच है, हम माया जाल में फंसे हुए हैं; इस में से निकल नहीं सकते, हम गृहस्थ हैं भला हम से क्या बन सकता है। माया ठगनी है, नटनी है, हमको मोहित करके अपने वश में कर लेती है। कोई गृहस्थ तो माया से छूट नहीं सकता; हां! कोई महान् शूर वीर साधु संत छूट जाता हो तो कह नहीं सकते।" इस प्रकार कहने वाले माया का यथार्थ स्वरूप नहीं जानते। माया क्या है? किस प्रकार फैलती है? किसकी है? यदि इतना वे जान जांय तो अपने को इतना असमर्थ समझने का कोई कारण नहीं है।

विचार करना चाहिये कि इन लोगों के वचनों में सत्यता कहां तक है। जो कुछ दृष्टि में आता है, स्थूल रूप से है अथवा पृथ्वी के ऊपर है, उसको ही वे लोग संसार और माया कहते हैं, उसके सिवाय संसार या माया वे नहीं जानते। जिसको जगत्, संसार या सृष्टि कहते हैं वह वस्तुतः माया नहीं है, वह तो दृश्य पदार्थ है, जड़ है। जड़ पदार्थ बलात्कार से किसी को फँसा नहीं सकता। घर, धन, वस्त्राभूषण आदिक सुन्दर पदार्थ क्या मनुष्यों को फंसा सकते हैं? क्या उन्होंने जाल बिछाया है? नहीं, वे नहीं फंसा सकते। जब से जगत् का आरम्भ समझा जाय तब से आज तक किसी पदार्थ ने किसी को नहीं फँसाया

तब फँसाने वाला कौन है ? यदि यह पूछो तो सुनोः-फंसाने वाला फंसने वाले का भाव ही है। अपने भाव से वह आप ही फंस जाता है और उसका दोष का जगत् और जगत् के पदार्थों पर आरोप करता है मानों इस प्रकार सूचना देता हो कि मैं स्वयं नहीं फंसता दूसरा बलात्कार से मुझे फंसा देता है। फंसने वालों में भरा हुआ अज्ञान माया है। उसका भाव माया की वृत्तियां हैं। वे ही वृत्तियां विस्तार को प्राप्त होती हैं, वही माया जाल है।

लोग जो यह कहते हैं कि हम निकलना चाहते हैं उनका यह कहना झूंठ मूठ ही है। जो फंसा हुआ है अथवा फंसता जा रहा है वह पूर्ण भाव से निकलना नहीं चाहता। यदि वह सच्चे भाव से फंसावट का स्वरूप समझ कर निकलना चाहे तो निकलने में देर न लगे। जब प्रपंच में दुःख मालूम होता है तब मनुष्य दुःख से छूटने के लिये प्रपंच से निकलने की इच्छा करता है, उस समय दुःख का दृश्य उसके सामने होता है। जहां दुःख का दृश्य थोड़ा हटा कि प्रपंच से निकलने की इच्छा भी गई।

एक और आश्चर्य है कि जब निकलना चाहते हैं तब भी कहते यही हैं कि निकल नहीं सकते। निकलने की किंचित् इच्छा के सामने आंतर में न निकलने का भाव दृढ़ होता है। ऊपर से ही दुःख का कारण कहते हैं, स्वरूप समझते नहीं, भला ऐसे पुरुष प्रपंच से कैसे निकल सकते हैं। जैसे कोई निर्धन शेखचिल्ली इच्छा करे कि मुझे लाख रुपये मिल जांय और आंतर में यह

निश्चय हो कि मेरी इच्छा पूर्ण होनी असम्भव है इसी प्रकार अविचारी पुरुषों को प्रपंच से छूटना असम्भव है। "लाख रुपये एक दम मिल जांय, भला मेरा ऐसा प्रारब्ध कहां है?" जैसे यह दुर्बल भाव शेखचिल्ली का मनोरथ फलीभूत नहीं होने देता इसी प्रकार अविचारी का दुर्बल भाव उसे प्रपंच से नहीं छूटने देता।

अनेक प्रपंच के भाव पकड़े हुए को गृहस्थी कहते हैं, घर में टिका हुआ गृहस्थी कहलाता है, ग्रसित-घिरे हुए का नाम गृहस्थी है, इस प्रकार के गृहस्थी तुम अपने आप बने हो अथवा किसी ने बलात्कार से बना दिया है? बलात्कार से कोई किसी को गृहस्थी बना नहीं सकता। यदि कोई कहे कि माता पिता ने बनाया है तो यह भी कहना ठीक नहीं है। तुम्हारा भाव गृहस्थी बनने का था, इसलिये सब संयोग प्राप्त हो गये। यदि तुम निश्चय में पक्के होते तो माता पिता आदिक तो क्या, ब्रह्मा भी तुम्हें गृहस्थी नहीं बना सक्ता। जिसे तुमने गृहस्थी समझा है वह गृहस्थी नहीं है। तुम्हारी समझी हुई गृहस्थी तुमको दुःख भी नहीं देती। बाहर की गृहस्थी वास्तविक गृहस्थी नहीं है, गृहस्थी तुम्हारे अन्तःकरण में भरी हुई है, वह ही तुम्हें दुःख दे रही है। वह गृहस्थी तुम्हारी समझ में नहीं आती, इसलिये बाहर के स्त्री, पुत्र, बहिन, माता, पिता और कुटुम्बियों को गृहस्थी समझते हो।

घर में टिका हुआ गृहस्थी इस प्रकार है:-चूना, पत्थर, मट्टी का बना हुआ घर घर नहीं है, ऐसे घर तो कई बदल जाते हैं।

कई मनुष्य घर न होने से किराये के घर में रहते हैं तो क्या वे गृहस्थी हुए? दुःख देने वाला घर जिसमें तुम रहते हो वह आन्तर वासना का है। उसके भोग स्वरूप बाहर के स्थूल पदार्थ हैं। वह घर अज्ञान के गारे और कल्पना की ईटों का बना हुआ है। जहां तक इन दोनों का नाश न किया जायगा वहां तक तुम्हें दुःख देने वाला घर नहीं टूट सकता।

तुम कहते हो कि हम घिरे हुए गृहस्थ हैं तो हम पूछते हैं कि किस से घिरे हुए हो? यदि स्त्री, पुत्र, धन, धाम, शरीर अथवा प्रतिष्ठा से घिरे हुए हो तो यह कहना झूंठ है। उन्होंने तुमको नहीं पकड़ रक्खा। यदि तुम घिर गये हो तो अपनी कामनाओं से घिर गये हो इसलिये घर में टिके हो। स्त्री, धन, धाम, प्रतिष्ठा आदिक सब कुछ विद्यमान हो परन्तु यदि तुम उनकी कामनाओं से रहित हो तो घिरे हुए नहीं हो–गृहस्थ नहीं हो। 'हमसे कुछ नहीं हो सकता,' यह भाव तुमको गिराने वाला है, इन वचनों का भाव माया जाल को तोड़ना नहीं चाहता, बीमार से बीमार मनुष्य भी जब जान लेता है कि मकान जल रहा है तब वह क्या 'मैं नहीं जा सकता' ऐसा कह कर वहीं जल मर जाता है? ऐसा कभी नहीं होता वह अवश्य भागता है, चाहे अति अशक्त होने से बीच में भले जल जाय परन्तु भागे विना नहीं रह सकता। 'हम से क्या हो सकता है' ऐसे कहने वालों को प्रपंच, आग की समान जलाने वाला मालूम नहीं होता इसीलिये ठंडे पेट से कहते हैं 'हम से क्या हो सक्ता है?' कोई पांच पचास मन बोझ

उठाना नहीं है, कोई लाखों मन मट्टी खोदनी नहीं है, युद्ध में जाकर सैकड़ों मनुष्यों के साथ अस्त्र शस्त्र से लड़ना नहीं है, कई महीने तक समुद्र में मुसाफिरी नहीं करनी है, माया तो सहज में हट सकती है, पैसे टके का भी काम नहीं। माया तुम्हारे अज्ञान का भाव है, तुम्हारे वश में है, तुम्हारी मिलकियत है, तब उसके हटाने में विलम्ब और परिश्रम ही क्या है ? तुम अपनी समझी हुई माया को ठगनी नर्तकी बताते हो, वह ऐसी नहीं है। सच तो यह है कि तुम माया से नहीं ठगे गये हो, अपने भाव से आप ही ठगे गये हो। सच्ची माया तो तुम्हारा आंतरिक अज्ञान अविद्या है, जगत् का दृश्य भाव माया नटनी नहीं है। जब तुम आंतर अविद्या-वासना नटनी को पकड़ ले चले, तब तुम्हारा बल पाकर वासना रूप नटनी ने तुमको मूंड़ डाला, अपना चेला बना डाला, अपनी जमाअत में मिला लिया, अपने वस्त्र पहना दिये। इस प्रकार तुमसे घर २ भीख मंगवाने लगी और आप खाने लगी। जैसे कोई अपने पैर पर कुहाड़ा मार कर पैर कट जाने पर कुहाड़े को दोष दे इसी प्रकार तुम्हारा कहना है।

'कोई गृहस्थ माया जाल से नहीं बच सकता,' यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। हम कहते हैं, तुम गृहस्थ बनते ही क्यों हो ? तुम गृहस्थ हो नहीं। गृहस्थ न होकर भी अपने को गृहस्थ मान कर और वैसा ही आचार करके तुम माया के जाल से नहीं बच सकते। मन की मानता से ही गृहस्थ बन बैठे हो। यदि तीव्रता हो, माया के प्रभाव से दुःख प्रतीत हो, तो गृहस्थियों के

पहने हुए मानसिक वस्त्रों को उतार कर फेंक दो। फिर देखें गृहस्थी तुम्हारा क्या कर सकती है? वह तो मृतक है, तुमने जान देकर सजीवन कर रक्खी है, फिर कहते हो कि महा शूरवीर माया से बच सकता है। हम कहते हैं उसमें शूरवीरपने का कोई काम नहीं है, जो मन का स्वरूप समझता है उसे मन को समझाना एक छोटे से बालक के खेल के समान है, न समझने से कठिन से भी कठिन है। यदि कठिनता से देखोगे तो राई पर्वत हो जायगी।

माया जादू के तमाशे को कहते हैं! जादू का तमाशा तभी तक दीखता है जब तक जादू का असर रहता है, जिस प्रकार जादू का असर जाते ही जादू के बने हुए सैंकड़ों कोश के पहाड़ चण भर में लोप हो जाते हैं इसी प्रकार अंज्ञान के भाव रूप जादू का असर जाते ही कठिन से कठिन माया भी एक चण में अदृश्य हो जाती है।

जो वस्तु वस्तुतः न हो और दूसरे के सहारे से कुछ कुछ दीखती हो वह माया है। माया भूल को कहते हैं, अज्ञान और अविद्या भी उसी का नाम है, भ्रम, काल्पनिक, मनसृष्टि ये सब उसी के नाम हैं। माया कोई वस्तु नहीं है, अवस्तु दृश्य को ही माया कहते हैं। बहुत से प्रश्न किया करते हैं "माया कहां से उत्पन्न हुई?" जब माया वस्तु ही नहीं तब उत्पत्ति कैसी? वह तो भूल है, भूल करने वाला जब भूल करता है उससे प्रथम की भूल होती है इसी प्रकार माया अवस्तु स्वरूप होने से, देखने से प्रथम की अनादि है, कल्पना की है।

जगत् चक्राकार है, इसलिये माया भी चक्राकार है। जैसे चक्र का आदि अंत नहीं होता इसी प्रकार माया का आदि अंत माया के भाव में पड़े हुओं के लिये नहीं है। जो अपना स्वरूप माया के चक्र से बाहर निश्चय कर लेते हैं उनके लिये चक्र नहीं रहता। पूर्ण रूप से भूल निकल जाने पर भूल के प्रभाव का असर फिर नहीं होता। अज्ञान निकल जाने के पश्चात् फिर होगा ऐसी शंका मंद बुद्धि वालों को होती है। जब एक बार कारण सहित अज्ञान का समूल नाश हो गया तब वह फिर किस प्रकार हो सकता है? यह समझना सूक्ष्म संस्कारिक बुद्धि का विषय है इसलिये मंद बुद्धि वालों की समझ में आना कठिन है। वस्तु का आना जाना हो सकता है, अवस्तु का आना जाना क्या? माया का धोखा निवृत्त होने और स्वरूप जानने के पश्चात् फिर धोखा होना सम्भव ही नहीं है, यह शास्त्र और अनुभव से सिद्ध है।

एक राजा तमाशा देखने का बड़ा प्रेमी था। तमाशा करने वाले उसका नाम सुन कर देश देशान्तर से आया करते थे और अपना तमाशा दिखा कर उसे प्रसन्न कर के पारितोषिक प्राप्त करते थे। एक समय एक जादूगर जो प्रथम भी राजा को तमाशा दिखला चुका था दूसरी बार तमाशा दिखाने आया। राजा को उसका खेल बहुत पसन्द था। तमाशा देखने का स्थान और समय नियत हुआ। 'यथा राजा तथा प्रजा,' इस न्याय के अनुसार वहां की प्रजा भी तमाशा देखने की प्रेमी हो गई थी। शहर भर में तमाशा देखने जाने को हलचल मच गई। तमाशे के लिये एक विशाल स्थान नियत किया गया। वह स्थान इतना बड़ा था कि

शहर के आधे मनुष्य उस में बैठ कर तमाशा देख सकते थे। नियत समय पर स्थान तमाशा देखने वालों से भर गया, आने जाने के मार्ग के सिवाय और जगह खाली न रही। चारों तरफ तमाशा देखने वाले बैठ गये और जादूगर ने मध्य में बैठ कर तमाशा आरम्भ किया। कई वस्तु अनहोनी उत्पन्न कीं, कई बदल डालीं, नवीन २ वस्तु निकाल २ कर दिखाने लगा, राजा और प्रजा तमाशा देख २ कर प्रसन्न होते थे। जादूगर कई प्रकार से तमाशा करता था, हाथ की चालाकी में उस्ताद था, प्रसंग पर देखने वालों की दृष्टि भी बंद कर देता था। उस ने एक टोकरी भर गुलाब के फूल निकाले, चम्पा, चमेली, मोगरा आदिक पुष्प भी निकाले, अनेक प्रकार के अतर निकाल कर सुगन्ध फैला दीं, आम, अमरूद, नारंगी अनन्नास आदिक फल निकाले, विदेशी अनऋतु की अनेक वस्तुयें दिखलाईं, मुख में से नारियल निकाले, रोली का मुख से निकाल २ कर ढेर कर दिया। इसके पश्चात् मिठाइयां निकालना आरंभ किया। अनेक प्रकार की मिठाइयां निकालीं, अनेक प्रकार की मिठाइयों से भरे हुए थाल के थाल आने लगे, जादूगर के भाव के साथ सब एकमेक हो गये। सब देखने वाले जादूगर की कठपुतलियों के समान जो जादूगर कहे वह ही करने लगे, जो जादूगर कहे वह ही सब देखें। एक थाल गुलाबजामुनों का मंगाया गया। जदूगर ने गुलाबजामुन राजा और उनके कई मनुष्यों को बांट कर कहा "हुजूर! खाइये! मैं भी खाता हूँ।" ऐसा कह कर जादूगर खाने की चेष्टा करने लगा तब राजा और उसके साथी भी गुलाबजामुन खाने लगे। जिन को न मिलीं वे भी इच्छा करने

लगे, कि हमको मिलतीं तो हम भी खाते। इस प्रकार खाने वाले गुलावजामुन खा रहे थे और स्वाद ले ले कर आनन्द मान रहे थे। इतने ही में एक आश्चर्यजनक बनाव हुआ:—एक साधु कहीं बाहर से आकर किवाड़ों के पास खड़ा होकर तमाशा देख कहने लगा "अरे बुद्धि भ्रष्टो, क्या खा रहे हो? गधे की लीद खा कर आनन्द मान रहे हो।" इतना कह कर वह तो चला गया और जिनके पास गुलावजामुन बच रहीं थीं वे अपने हाथों में गधे की लीद देख कर फेंकने लगे। जिनके मुख में गुलाब जामुन थीं उनको गधे की लीद का स्वाद आने से वे थू थू करने लगे। दूसरों पर थूक की छींटें पड़ने से लोगों में घबराहट मच गई। कई मनुष्य जा कर जादूगर को पकड़ कर मारने लगे। राजा की आज्ञा से मारना बन्द कर दिया गया और जादूगर कैद कर लिया गया। राजा सहित सब भ्रष्ट हो गये थे, दूसरे दिन सब प्रायश्चित्त करके शुद्ध हुए।

तीसरे दिन राजा ने जादूगर को बुला कर डाट दे कर कहा "अरे भ्रष्ट! तू तो सचमुच भ्रष्ट है ही! तू ने जान बूझ कर हमको क्यों भ्रष्ट किया?" जादूगर ने हाथ जोड़ कर कहा "महाराज! इसमें मेरा क्या दोष है? हरेक जानता है कि मैं जादूगर हूँ! मेरी वस्तुयें सच्ची नहीं होतीं, मेरा तो यह ही धंधा है! आपने गुलावजामुन खाई क्यों?" राजा ने कहा मूर्ख! तू ने भी सब को बांट कर खाई थीं! तुझे खाते देख कर हम ने भी खा लीं।" जादूगर ने कहा "महाराज! खाना खिलाना सब ही मेरा तमाशा था। तमाशे में ऐसा ही हुआ करता है। आप ही विचारिये यदि

मैं सच्चे गुलाबजामुन बना लिया करता और मिठाइयों के थाल मंगवा लिया करता तो घर बैठे ही आनन्द न करता, यहां तमाशा दिखाने क्यों आता ?" राजा ने कहा "तू गधे की लीद कहां से लाया था ?" जादूगर ने कहा "महाराज ! चाहे मारो चाहे छोड़ो, सच तो यह है कि जब मैं तमाशा करने आ रहा था, मुझे रस्ते में पड़ी हुई लीद मिली, मैंने वह उठा कर कपड़े में बांध ली। जब तमाशे के स्थान पर आया तो मुझे लीद लाते किसी ने न देखा। बिना किसी आधार के कोई वस्तु नहीं दिखलाई जा सकती, इसलिये गधे की लीद में मैंने गुलाब-जामुन के भाव की कल्पना की--जादू किया, लोग गुलाबजामुन देखने लगे और खाने लगे। मेरे भाव के अनुसार सब को स्वाद भी गुलाबजामुन का ही आया। सब आनन्द मानने लगे। एक जोगटे ने आ कर मेरा सब तमाशा भंग कर दिया।" राजा ने कहा "तमाशा भंग करने का क्या कारण था ?" जादूगर ने कहा "महाराज ! मेरी विद्या के प्रभाव से सब सभा मेरे भावं वाली हो गई थी। मैंनें सबकी दृष्टि बांध दी थी, जोगटे की दृष्टि बंधी न थी, वह मेरी दृष्टि में दबा न था, उसने यथार्थ वस्तु जान ली। जब वह पुकार कर कहने लगा तब सब को मेरी तरफ़ से अश्रद्धा हो गई, मेरी बंधी हुई दृष्टि हट गई, तमाशा बिगड़ गया !!!"

इस दृष्टांत से, माया क्या है किस प्रकार दीखती है और कैसा अनर्थ करती है यह प्रत्यक्ष हो गया होगा ! जिस प्रकार अशुभ पदार्थों में आनन्द दिखलाने वाला जादू था इसी प्रकार अशुद्ध विषयों में आनन्द दिखलाने वाली माया है !

जादूगर ने लोगों को बलात्कार से अपनी माया में नहीं बांधा था, जब वे तमाशा देखने की इच्छा करके गये तब उनकी इच्छा के कारण से ही जादूगर उनको फंसाने योग्य हुआ। इसी प्रकार जब हम प्रथम माया के भाव वाले होते हैं तभी वह हमें फंसाने के योग्य होती है। साधु को तमाशा देखने की इच्छा न थी, वह तमाशा देखने नहीं आया था, इतने मनुष्य क्या कर रहे हैं। यह ही उसने देखा था, इसी कारण वह जादूगर की दृष्टि में नहीं दबा। जब उसने अपना तीव्र भाव चिल्ला कर प्रगट किया तब जादूगर की माया के पटल जो सब की दृष्टि पर चढ़े हुए थे। उतर गये। इसी प्रकार जब सद्गुरु की तीव्र पुकार से मनुष्य जाग्रत हो जाता है तब अज्ञान और अज्ञान के कार्य सब बिगड़ जाते हैं। उसका प्रभाव कुछ भी नहीं रहता। जैसे ऊपर लगाई हुई गिलट-झूठी चमक अग्नि पा कर नहीं टिक सकती इसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि लगते ही झूठी माया नहीं रहती। मन रूप जादूगर था, उसने जब तमाशा दिखलाने की इच्छा की तब आत्मा रूप राजा तमाशा देखने को दौड़ा। मन रूप जादूगर ने उसे अपने भाव में मिला लिया और भ्रष्ट किया। माया करके ही आत्मा का बोध नहीं होता। आत्मा नित्य है, माया अनित्य है-इसके विवेक से यानी पञ्चकोश विवेक से आत्मा का बोध होता है।

स्थूल शरीर ।

सन्त ने कहाः—सनातन नगर का एक राजा सबलसिंह नाम का था। एक समय किसी कारण से उसको मृगया (शिकार) खेलने की इच्छा हुई, इसलिये वह अपनी नगरी को छोड़ कर वन में गया। वहां उसे कुछ दूर पर एक मृग दिखाई दिया जो अत्यन्त चपल और अद्भुत था। उसको देखते ही राजा उसे वध करने को दौड़ा, मृग भागने लगा, आगे २ मृग और पीछे २ राजा इस प्रकार दौड़ते हुए दोनों बहुत दूर निकल गये। राजा ने कितने ही बाण मारे परन्तु मृग ने सब बचा लिये। जभी मृग बाण आता देखता तभी इधर उधर हट जाता, इस प्रकार एक घंटा व्यतीत हो गया। राजा थक गया, मृग न तो मरा ही और न दृष्टि से ओझल ही हुआ, थोड़ी देर को मृग ओझल हो जाय और दो चार क्षण पीछे फिर दीखने लगे। राजा के मनुष्य सब पीछे रह गये, उसको यह भी खबर न रही कि वह अपने नगर से कितनी दूर आ गया है। क्षुधा और धूप सताने लगी उसको इस बात की हठ हो गई थी कि चाहे जितना भी कष्ट क्यों न हो मृग को मार कर ही छोड़ूंगा। मानों मृग ने भी निश्चय कर लिया था कि न तो मैं मरूंगा ही और न दृष्टि से बाहर ही होऊंगा। इस प्रकार प्रातःकाल से पिछला पहर हो गया अंत में मृग राजा को बहुत दूर ले जा कर अदृश्य हो गया, राजा ने इधर उधर बहुत खोज की, किंतु मृग दिखाई न दिया। एक राजमहल दिखाई दिया, राजा उसे देखकर प्रसन्न हुआ और विश्राम लेने की इच्छा

से उसकी तरफ चला। पास जाकर राजा ने देखा कि महल दो बुर्जों के ऊपर बना हुआ है। भीतर जाकर देखा कि महल के बीच में एक अद्भुत स्थान है, उसमें छोटी २ कई कोठरियां हैं, एक कोठरी रसोई बनाने की है उसमें चौबीसों घन्टे अग्नि बनी रहती है। एक तरफ जल की कोठरी है। एक कोठरी पाखाने की है, उसके पास जल का नल लग रहा है। मध्य भाग में एक अन्धेरे वाला शयन गृह है। उसके नीचे के भाग में ज्योतिर्लिङ्ग महादेवजी का मन्दिर है। उनका प्रकाश सब राज महल में फैल रहा है। वहां से चल कर राजा ने देखा कि ऊपर से नीचे सामान ले जाने के लिये तराजू के समान एक यंत्र (lift) रक्खा हुआ है। एक स्थान टेलीफोन के मध्य बिन्दु के समान है। इधर उधर की खबर पहुँचाने के लिये सब तार वहां जुड़े हुए हैं। उसका मुख्य आलय (Office) ऊपर के भाग में है। आलय में तीन क्लर्क काम कर रहे हैं। और एक हाकिम रहता है वह ही महल का मालिक है। क्लर्कों के पास भिन्न २ काम करने के लिये चपरासी उपस्थित हैं। महल के ऊपर जाने को एक सीढ़ी लगी है। वह अन्धेरे शयन गृह से ऊपर की तरफ चली गई है। बीच में एक विलास स्थान है जहां राजमहल का मालिक विलास किया करता है। सीढ़ी वहां होती हुई और ऊपर चली गई है वहां कार्यालय का मुख्य स्थान है। मालिक मुख्यता से शयन गृह, विलास स्थान और कार्यालय में आता जाता रहता है। बाहर और भीतर काम करने वाले दोनों प्रकार के क्लर्क कार्यालय में आते जाते रहते हैं। परन्तु अन्तर कार्यालय में ऊपर बताये हुए

तीन क्लर्क ही काम करते हैं, बाहर के काम करने वाले दश क्लर्क हैं। बाहर काम करने वाले क्लर्क भीतर काम करने वाले क्लर्कों की सहायता से काम करते हैं। बीच वाले कमरे की ऊपर की तरफ के दोनों तरफ निकली हुई दो गोखें हैं उनमें इस प्रकार की कल लगी हुई है कि इच्छानुसार खोल अथवा बंद कर दी जा सकतीं हैं, वायु आने जाने के ये मुख्य स्थान हैं। दोनों गोखों में रेशम के समान गलीचे बिछे हुए हैं! उन पर कई प्रकार के चित्र कढ़े हुए हैं। गोखों में पांच पांच खम्भ हैं। प्रत्येक खम्भ के किनारे पर मोती के समान चमकदार पत्थर जड़े हैं। जिस स्थान पर वे गोख जुड़े हुए हैं उसके मध्य में हाकिम का विलास गृह है उसके ऊपर के कमरे के कई भाग हैं उनमें सात खिड़कियां लगी हुई हैं। दो खिड़कियां ऊपर से रस्ते की तरफ झुकी हुई हैं! वहां दो लैम्प टंगे हुए हैं। जब तक हाकिम कार्यालय में रहता है खिड़कियां खुली रहती हैं और प्रकाश बाहर की तरफ पड़ा करता है। जब हाकिम विलास गृह अथवा शयन गृह में जाता है तब वे खिड़कियां बंद हो जाती हैं। दोनों खिड़कियों के मध्य भाग के नीचे दो खिड़कियां और हैं। वे वायु के ग्रहण त्याग का काम करती हैं। सुगन्ध दुर्गन्ध बताने वाली वे दोनों खिड़कियां हैं। उनके नीचे के मध्य भाग में एक बड़ा दरवाजा है बाहर से भीतर सामान लाने का काम उस दरवाजे से होता है। वहां बत्तीस चौकीदार दोनों तरफ पहरा देते हैं। वस्तु उठाने और लुढ़का कर भीतर ले जाने के लिये एक यंत्र (Crane) रक्खा हुआ है।

जो बड़ी वस्तु मार्ग में न जा सके तो चौकीदार उसे तोड़ देते हैं। यंत्र उठा कर अथवा लुढ़का कर भीतर पहुंचा देता है। ऊपर बताई हुई लैम्पों वाली खिड़कियों के इधर उधर दो और खिड़कियां हैं। उनमें होकर बाहर का शब्द भीतर आता है। बाहर की बातें हाकिम उन्हीं के द्वारा सुना करता है। गुफा के समान दोनों खिड़कियां अद्भुत बनी हुई हैं। इन सब खिड़कियों और कमरों के ऊपर राजमहल का गोलाकार शिखर बना हुआ है और उसके ऊपर काले रंग की ध्वजा फहरा रही है। इस प्रकार राजा सब राजमहल में सैर करता फिरा, उसने और सब व्यवस्था तो ठीक पाई परन्तु वहां का मालिक कहीं देखने में न आया। सब क्लर्क और चपरासियों ने मिल कर राजा से वहां का हाकिम बनने के लिये प्रार्थना की, राजा ने उनका कहना मान लिया और वह वहां का मालिक बन बैठा। वहां का रईस बन गया। उसने वहां अपने कुटुम्बी बना लिये उनके साथ रात दिन विलास करने लगा। इस प्रकार वहां उसे अनन्त युग व्यतीत हो गये। वह अपने राज्य की सुध भूल गया। कुटुम्ब बहुत बढ़ गया, उन के साथ रहने से उसे कभी २ दुःख मालूम होता था तो भी वह राजमहल और कुटुम्ब को छोड़ना नहीं चाहता था। कुछ दिनों में राजमहल के साथ उसे इतना प्रेम बढ़ गया कि उसको यह भी मालूम न हो कि मैं राजमहल से अलग हूँ, अपने को राज महल ही समझने लगा।

उपरोक्त वृतांत सुना कर संत ने शिष्य से पूछा "क्या तूने कभी ऐसा राज महल देखा है ?" शिष्य बोला "महाराज ! मैंने

ऐसा महल कभी नहीं देखा है, मैं राजा को भी नहीं जानता, कृपा कर आप बताइये वह महल कहां है और वह राजा कौन है ? राज महल का वर्णन सुन कर मुझे उसको देखने की तीव्र इच्छा है।" संत ने हंस कर कहा "मैं महल को देख रहा हूँ, महल मेरे सामने है। जो तू देखे तो तुझे भी सामने दीखे !" शिष्य ने कहा महाराज ! "क्या वह महल पास ही है ? अथवा दिव्य दृष्टि होने से आपको दीखता है ? चर्म दृष्टि से तो मुझे कुछ नहीं दीखता।" संत ने कहा "वह महल दिव्य दृष्टि से नहीं दीखता वह चर्म दृष्टि से ही सबको दीखता है" शिष्य ने कहा "तब कृपा करके दिखलाइये। मैं उसे देखने के लिये दूर जाने को और परिश्रम उठाने को भी तैयार हूँ। यदि आप यहीं बैठे दिखलादें तो इससे विशेष आश्चर्य क्या ?" संत ने कहा "तुझे यह जो तेरा शरीर दीखता है वही स्थूल शरीर राज महल है उसमें रहने वाला राजा स्वयं तू है। उसके अंग उपांग सहित मैं तुझे समझाता हूँ, श्रवण कर:-दो बुर्ज जिन पर महल बना है दो पैर हैं, बीच का अद्भुत स्थान पेट-उदर है। छोटी २ कोठरियां इस प्रकार हैं:—रसोई की कोठरी पाचनालय (मेदा) है जिसमें जठराग्नि चौबीस घंटे रहती है, पाखाने की कोठरी मल स्थान-मलाशय और जलघर जलाशय है, जल का नल लिंगेन्द्रिय है, मध्य भाग की अंधेरी कोठरी शयन स्थान, हृदय सुषुप्ति स्थान है, अंधेरी कोठरी की गहराई में नीचे ज्योतिर्लिंग महादेवजी का जो मंदिर बताया वह कूटस्थ-साक्षी-आत्मा चैतन्य स्वरूप है उसी के प्रकाश से सब महल प्रकाशित होता है। तराजू के समान जो

यत्र बताया वह अन्न जल ले जाने वाला नल है। टलीफोन के मध्य विन्दु के समान नाभि स्थान है, तीन क्लर्क मन, बुद्धि और चित्त हैं, हाकिम—मालिक अहंकार है, कचहरी अन्तःकरण है, चपरासी वृत्तियां हैं, बाहर के दश क्लर्क दश इन्द्रियां हैं, शयन-गृह हृदय है, विलास गृह कंठ स्थान है, जो स्वप्न स्थान है; कार्यालय नेत्रस्थान है, जो जाग्रत अवस्था का स्थान है; दो लम्बे गोखों का वर्णन किया वे दो हाथ हैं, उनको इच्छानुसार मोड़ सकते हैं, स्पर्श ज्ञान की विशेषता से हाथ हवा खाने का स्थान हैं, उनमें रेशम के समान विछे हुए गलीचे हथेली हैं, रेखायें उन में चित्र हैं, गोखों में पांच पांच खम्भे लगे हैं वे अंगुलियां हैं,उन के अग्र भाग में मोती के समान जड़े हुए चमकदार पत्थर नख हैं, विलास स्थान के ऊपर मस्तक आया हुआ है उस में लगी हुई सात खिड़कियां सात छिद्र हैं, लैम्प टंगी हुई दो खि कियां नेत्र हैं, लैम्प प्रकाश हैं, नीचे सुगन्ध ग्रहण करने वाली दो खिड़कियां नासिका के दो छिद्र हैं, उनके नीचे का बड़ा दरवाजा मुख है, उसमें रहने वाले वत्तीस चौकीदार दांत हैं, सामान को उठाने वाला और लुढ़का कर ले जाने वाला यंत्र जिह्वा है, बड़ी चीजों के टुकड़े करना दांतों से पीसना चवाना है, शब्द ग्रहण करने की दो खिड़कियां कान हैं, महल का अंतिम भाग शिखर मस्तक है, काली ध्वजा बाल हैं। अब तो महल को तूने भली प्रकार देख लिया होगा। जिसको तू नहीं जानता था वह तेरे पास ही निकला। जैसे वह राजा 'मैं अलग हूं' महल अलग है' यह बात भूल गया

था; ऐसे ही तू भी भूल गया है।" शिष्य ने कहा "नहीं महाराज ! मैं शरीर को अलग मानता हूँ, परन्तु शरीर से अलग मैं अपने को दिखला नहीं सकता। और ठीक रीति से समझ भी नहीं सकता कि मैं शरीर ही हूं अथवा शरीर से पृथक् कोई और हूँ।" संत ने कहा "तभी तो मैं कहता हूँ कि तू शरीर को ही मैं मानता है-किस प्रकार मानता है सो सुनः-जब शरीर थक जाता है, तब तू समझता है कि मैं थक गया, जब शरीर को सुख होता है तब तू अपने को सुखी मानता है, शरीर रोगी होने से तू अपने को रोगी समझता है, शरीर दुर्बल होने से तू अपने को दुर्बल मानता है, शरीर सुन्दर होने से तू अपने को सुन्दर मानता है, इस प्रकार मानना 'मैं शरीर ही हूँ' इस भाव से ही होता है अपने को शरीर से पृथक् समझे तो शरीर के सुख-दुःख तुझे क्यों हों ? क्योंकि शरीर से तू भिन्न है।" शिष्य ने कहा "महाराज ! यदि मैं शरीर से पृथक् हूं तो दिखाई क्यों नहीं देता ? जब मैं शरीर से पृथक् नहीं दीखता तभी मैं अपने को शरीर मान लेता हूँ" संत :—दीखने वाले पदार्थ माया के पंच भौतिक होते हैं, तू माया का पंच भौतिक पदार्थ ही नहीं तब कैसे दीखे ? जब कोई मर जाता है तब उसमें से कौनसी वस्तु चली जाती है ? जिससे शरीर अपवित्र समझा जाता है, वह जाने वाली वस्तु दिखाई नहीं देती तो भी 'शरीर में चैतन्यता नहीं है, शरीरधारी शरीर छोड़ कर चला गया' कहते हैं-समझते हैं। इस प्रकार शरीर में रहते हुए रहने वाला न दीखे तो क्या हुआ ? वह शरीर से पृथक् समझ में आता है। बोलने चालने में तू शरीर से अलग हो इस

प्रकार व्यवहार करता भी है। तू शरीर को मेरा शरीर कहता है, मेरा कहा हुआ पदार्थ अपने से भिन्न होता है। कभी तू शरीर को मैं कहता है और कभी उसको मेरा कहता है इसलिये प्रथम तो यह निश्चय कर कि तू शरीर नहीं है; शरीर विकारी है, तू विकार रहित है; शरीर जड़ है, तू चैतन्य है; शरीर जन्मने मरने वाला है, तू जन्म मरण से रहित है; शरीर छोटे से बड़ा होता है तू छोटा बड़ा नहीं होता। शब्दोच्चारण में चाहे तू शरीर को मैं कहे, चाहे मेरा कहे, परंतु वर्तांव तो तू मैं के भाव से करता है इस-लिये विचार करके 'मैं शरीर हूँ' इस भाव को निकाल दे। शरीर मेरा है, मेरा है यही मेरा जब बहुत घन भाव को प्राप्त हो जाता है तब मेरा में से रा हट जाता है और मे का मैं बना के वर्तांव होने लगता है। शरीर दृश्य है, तू उसका द्रष्टा है, देखने वाला देखने के पदार्थ से भिन्न होता है, 'भिन्न है' ऐसा न मानना यही अज्ञान है, यह ही जीव भाव है, यह ही दुःख की जड़ है। परस्पर मिले हुए दो पदार्थों में से यदि एक ठीक रीति से जान लिया जाय तो शेष रहा हुआ दूसरा पदार्थ है, ऐसा समझ सकते हैं, 'शरीर तू नहीं है' यह समझने के लिये स्थूल शरीर किस प्रकार का है, यह मैं तुझे समझाता हूँ:—देखने में आने वाला स्थूल शरीर पंचभूत का पुतला है, पंच महाभूत इस प्रकार हैं, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। पृथ्वी का रंग पीला, जल का श्वेत, अग्नि का लाल, वायु का धुंधला और आकाश का काला है। आकाश में एक गुण शब्द है, वायु में दो गुण शब्द और स्पर्श हैं, अग्नि में तीन गुण शब्द स्पर्श और रूप हैं, जल में

चार गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं और पृथ्वी में पांच गुणः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं। इनमें पृथ्वी, जल और अग्नि दृश्य स्वरूप हैं, वायु और आकाश अदृश्य स्वरूप हैं। यद्यपि वायु और आकाश दृष्टि का विषय नहीं हैं तो भी वे अन्य इन्द्रियों के विषय हैं। पांचों तत्त्व क्रम से एक से एक सूक्ष्म हैं, उनकी उत्पत्ति माया से हुई है, माया त्रिगुणात्मक जड़ है। सत् रज और तम ये तीन माया के गुण हैं। जो देखने में आते हैं वे पंच महा भूत पंची करण किये हुए हैं, इसलिये स्थूल होने से दीखते हैं। जो एक दूसरे से मिल कर गाढ़े हो जांय उन्हें पंचीकृत कहते हैं। पांच के पचीस भाव वाले होकर जो मिलकर स्थूलता को प्राप्त हुए हैं उन्हें पंचीकृत पंच महाभूत कहते हैं। पंचीकरण की एक रीति इस प्रकार है:-पांचों भूतों में से प्रत्येक के दो दो भाग कर के हर एक के आधे २ भाग को अलग रख दें, और दूसरे आधे २ भागों में से प्रत्येक के चार भाग करें, ये भाग पूरे के आठवें भाग अर्थात् रुपये के दो दो आने के भाग हुए। इनको अब इस प्रकार मिलावे कि पृथ्वी तत्त्व का मुख्य आधा भाग लेकर उसमें पृथ्वी तत्त्व को छोड़ कर और चार तत्त्वों के दो दो आने भर के भाग मिलावें, वह जो एक भाग पूरा हुआ वह पंचीकरण किया हुआ पृथ्वी तत्त्व हुआ। इसी प्रकार जल तत्त्व के मुख्य आधे भाग, जल तत्त्व को छोड़ कर और चारों तत्त्वों के दो आने वाले छोटे भाग मिलावे, यह जो पूरा एक हुआ वह पंचीकरण किया हुआ जल तत्त्व हुआ, इसी प्रकार अग्नि, वायु और आकाश का विभाग करें। अथवा यों समझो कि पांच मित्र एक स्थान पर बैठे हैं,

पांचों के पास एक २ फल है, अनार सेब, नारंगी अंजीर और अमरूद। पांचों ने फल तोड़ कर खाने की इच्छा की। सब के सामने अकेले फल खाना ठीक न समझ कर बांट कर खाने का निश्चय किया, पांचो ने अपने २ फल के दो दो टुकड़े किये, एक टुकड़ा तो अपने खाने को अलग रख दिया, दूसरे भाग के चार चार भाग कर, चारों को बांट दिये, इसी प्रकार सबने किया। जब बांट हो गये तब खाने को बैठे तो सब के पास पांच २ टुकड़े थे एक तो बड़ा और चार छोटे। बड़े टुकड़े के कारण से उनके भाग बड़े टुकड़े के नाम से कहे गये परंतु पांचों के पास पांच भाग होने से पांच ही तत्त्व कहे गये।

दूसरे प्रकार का पंचीकरण यह भी है:-पांचभूत में से प्रत्येक भूत के पचीस २ भाग किये, इकीस २ टुकड़े मुख्य रक्खे दूसरे चार भागों में से एक २ भाग लेकर पचीस टुकड़े पूरे कर दिये। इस प्रकार सब मिलाने से पंचीकरण हो गया। प्रथम के पंचीकरण की रीति में तो अपना आधा मुख्य और दूसरे आधे में और चार थे; और दूसरी रीति में पचीस भागों में इक्कीस भाग मुख्य और दूसरे चार भाग औरों के थे इस प्रकार पचीस पूर्ण हुए। इन पंचीकरण किये पंचभूतों से स्थूल शरीर बना है। इसी प्रकार स्थूल शरीर के संबंध वाला स्थूल ब्रह्मांड भी पंचीकृत पंच महा भूतों से बना है। अपंचीकृत तत्त्व स्थूल दृष्टि के विषय नहीं हैं। जितने स्थूल पदार्थ हैं वे सब पंचीकृत पंचभूतों के बने हुए हैं। कोई पदार्थ इनसे पृथक् नहीं है। जिसको केवल जल अथवा

केवल पृथ्वी कहते हैं वह केवल जल या पृथ्वी नहीं है किन्तु दोनों पंचीकरण किये हुए हैं। मुख्य भाग की विशेषता से वे पृथ्वी आदि कहलाते हैं।

पंचभूतों में पृथ्वी कठिन है, जल द्रवित है, अग्नि उष्ण है, वायु शीतल है, और आकाश पोल वाला है, वे सब एक दूसरे से मिल कर स्थूल शरीर रूप परिणाम को प्राप्त हुए हैं।

स्थूल शरीर के पंचीकृत पच्चीस तत्त्व।

पंचभूत	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश
पृथ्वी	हड्डी	मांस	नाडी	त्वचा	रोम
जल	रक्त	वीर्य	मूत्र	पसीना	लार
अग्नि	आलस्य	कांति	क्षुधा	तृषा	निद्रा
वायु	संकोचन	चलन	उत्क्रमण	दौड़ना	प्रसारण
आकाश	कटि का	उदर का	हृदय का	कंठ का	शिर का

पंचीकरण भूतों का विस्तार इस प्रकार हुआ है:—पृथ्वी का मुख्य भाग रूप हड्डी, पृथ्वी के मुख्य भाग और जल के न्यून भाग से रक्त, पृथ्वी के मुख्य भाग और अग्नि के न्यून भाग से आलस्य, पृथ्वी के मुख्य भाग और वायु के न्यून भाग से संकोचन, पृथ्वी के मुख्य भाग और आकाश के न्यून भाग से कटि में रहा हुआ आकाश। जल के मुख्य भाग और पृथ्वी के न्यून भाग से मांस, जल के मुख्य भाग से वीर्य, जल के मुख्य और

अग्नि के न्यून भाग से कान्ति, जल के मुख्य भाग और वायु के न्यून भाग से चलना, जल के मुख्य भाग और आकाश के न्यून भाग से उदर का आकाश। अग्नि के मुख्य भाग और पृथ्वी के न्यून भाग से नाड़ी, अग्नि के मुख्य भाग और जल के न्यून भाग से मूत्र, अग्नि के मुख्य भाग से क्षुधा, अग्नि के मुख्य भाग और वायु के न्यून भाग से उठना, अग्नि के मुख्य भाग और आकाश के न्यून भाग से हृदयाकाश। वायु के मुख्य भाग और पृथ्वी के न्यून भाग से चमड़ी, वायु के मुख्य भाग और जल के न्यून भाग से पसीना, वायु के मुख्य भाग और अग्नि के न्यून भाग से तृषा। वायु के मुख्य भाग से दौड़ना, वायु के मुख्य भाग और आकाश के न्यून भाग से कंठ का आकाश, आकाश के मुख्य भाग और पृथ्वी के न्यून भाग से रोम, आकाश के मुख्य भाग और जलके न्यून भाग से लार, आकाश के मुख्य भाग और अग्नि के न्यून भाग से निद्रा, आकाश के मुख्य भाग और वायु के न्यून भाग से फैलना और आकाश के मुख्य भाग से शिर का आकाश। इस प्रकार पांचों भूत स्थूल शरीर में हैं। स्थूल शरीर की जाग्रत अवस्था है, जीवात्मा नेत्र स्थान में रहता है, वाणी वैखरी–बाहर बिखरने वाली है, स्थूल शरीर की क्रिया शक्ति है, सतो गुण है, स्थूल शरीर का अभिमानी जीव विश्व का अभिमान करता है इसलिये विश्व कहलाता है, ओंकार की प्रथम मात्रा अकार है, जन्मना, होना, बढ़ना, परिणाम को प्राप्त होना, वृद्ध होना, मर जाना ये छः विकार स्थूल शरीर में होते हैं। जीवात्मा के पूर्व कर्म के अनुसार फल भोगने का स्थान रूप

स्थूल शरीर है। नाम, रूप, रंग, वर्ण, आश्रम, कुल, गोत्र, इत्यादि स्थूल शरीर में माने जाते हैं। इस प्रकार का स्थूल शरीर तू नहीं है। यह शरीर पंचभौतिक और विनाश वाला है, अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है, तू तो चैतन्य और पवित्र है, इस लिये उपरोक्त शरीर तू नहीं है। तेरे और उसके लक्षण नहीं मिलते, सब विरुद्ध हैं। जो तू शरीर ही है तो अपनी इच्छानुसार उसे क्यों नहीं रख सकता ? तू चाहता है, शरीर आरोग्य रहे, किंतु विक्रिया द्वारा शरीर आरोग्य नहीं रहता, तब तू शरीर किस प्रकार है ? यदि कोई कहे कि शरीर रूप मैं नहीं हूँ किंतु शरीर के समुदाय से उत्पन्न हुई शक्ति सहित शरीर मैं हूं तो भी नहीं बनता। मृतक शरीर के समुदाय में से कोई पदार्थ कम नहीं होता, फिर भी चैतन्यता नहीं रहती, जो समुदाय से चैतन्यता उत्पन्न हुई होती तो जब तक समुदाय टूटता नहीं तब तक रहनी चाहिये। मूर्छा, सुषुप्ति, समाधि में भी समुदाय ज्यों का त्यों रहता है, किंतु जीव की चैतन्यता नहीं दीखती, समुदाय से उत्पन्न हुए चैतन्य में ऐसा नहीं होना चाहिये और ऐसा होता है इसलिये 'शरीर समुदाय रूप मैं हूँ' यह कहना झूठ है। यदि ऐसा कहे कि शरीर से मैं कोई भिन्न पदार्थ होऊं तो दीखना चाहिये, सो भिन्न दीखता नहीं इसलिये शरीर से भिन्न मैं किस प्रकार हूं, तो सुनः—तू भौतिक पदार्थ नहीं है, इसलिये भौतिक दृष्टि का विषय नहीं है। तू जिस प्रकार का दिव्य है उसी दिव्य दृष्टि से तू अपने को जान सकता है। अंधेरे में पदार्थ न दीखे तो यह नहीं कह सकते कि पदार्थ है नहीं। जैसे प्रकाश में जो पदार्थ

दीखता है उसके देखने को वैसा ही प्रकाश चाहिये। अज्ञान के अंधेरे में आत्मा को देखना चाहें तो यह नहीं हो सकता।

तू भिन्न ही वस्तु है! तू न तो शरीर है और न शरीर से संबंध वाला है। तू सर्व से भिन्न आनन्द स्वरूप है, ऐसे शास्त्र और सद्गुरु के वाक्य मानने ही पड़ेंगे। जहां तक स्वयं साक्षात्कार न हो वहां तक श्रद्धा विना काम नहीं चलेगा। सभी आर्य शास्त्रकारों ने आत्मा को देह से भिन्न माना है, इतना ही नहीं किंतु जगत् के सभी मत मतांतरों में आत्मा को शरीर से पृथक् माना है। जो आत्मा शरीर से पृथक् न हो तो शास्त्र की सब क्रिया व्यर्थ हो जांय, सृष्टि कर्ता ईश्वर अन्यायी हो जाय, किये हुए कर्मों का फल न मिले, विना किये ही फल भोगना पड़े यह दोष उत्पन्न हो, जन्म का कोई कारण न रहे। शरीर आत्मा नहीं है यह श्रुति, स्मृति और अनुभव से सिद्ध है। अज्ञानी मनुष्य भी चाहे वर्त न सकें परन्तु पूछने से वे भी आत्मा को शरीर से भिन्न बतावेंगे। इन सब बातों से निश्चय करना चाहिये कि शरीर आत्मा नहीं है। तू शरीर को निश्चयपूर्वक आत्मा मानता भी नहीं है।

जैसे तू शरीर नहीं है इसी प्रकार शरीर तेरा भी नहीं है। जो पदार्थ जिस अवस्था में होता है वह उसी अवस्था वाले के अधिकार में हो सकता है। तू जगत् नहीं है इसलिये जगत् का स्थूल शरीर तेरा नहीं है। तू तो तीनों अवस्थाओं में एक सा रहता है, शरीर रूपांतर वाला है इसलिये शरीर तेरा नहीं है। जड़ का

संबंध जड़ से होता है, चैतन्य का संबंध चैतन्य से होता है। शरीर जड़ है, तू चैतन्य है, तेरा संबंध उससे किस प्रकार हो? तू ज्ञान स्वरूप चैतन्य है, उस माया रूप अज्ञान के शरीर को कहां रक्खेगा? जब किसी का हाथ या पैर कट जाता है, तब उसे क्यों फेंक देते हैं? यदि उसका होता तो अपने साथ साथ लिये फिरता! ऐसा कोई नहीं करता, तब उसका शरीर कैसे हुआ? मरने के समय तू स्थूल शरीर क्यों छोड़ देता है? शरीर तेरा है तो शरीर में से निकलने वाले मल, मूत्र, रक्त, मांसादिक को क्यों फेंक देता है? उससे घृणा क्यों करता है? इन सब बातों से निश्चय कर लेना चाहिये कि जैसे तू शरीर नहीं है ऐसे ही शरीर तेरा भी नहीं है। ऐसे अनेक शरीर हो कर नाश को प्राप्त हो गये तब यह शरीर तेरा कैसे है? इस-लिये निश्चय कर कि न तू स्थूल शरीर है न स्थूल शरीर तेरा है। तू और तेरा न होते हुए भी तू और तेरा मानना यही अज्ञान है, इसी के कारण अनेक प्रकार के जगत् के शरीर सहित कष्ट भोगने पड़ते हैं।

देह को आत्मा मानना अथवा देह से सम्बन्ध वाला आत्मा जानना, इसका नाम देहाध्यास है, एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का भाव मिश्रित करके उसे दूसरी वस्तु जानना इसका नाम अध्यास है। देह दूसरी वस्तु है, आत्मा दूसरा तत्त्व है। देह में आत्म भाव मिश्रित करके देह को आत्मा समझना, देहाध्यास है। स्थूल शरीर के साथ रहने वाले, उसके प्रवर्तक जड़ चिद् ग्रन्थि रूप अहंकार में आत्म भाव मिला कर देह मेरा है ऐसा मानना सूक्ष्म

देहाध्यास है। इस प्रकार का देहाध्यास अनर्थ की जड़ है। देह और आत्मा के कई अंश एक दूसरे में मिला कर मानना और दूसरे में प्रथम को मिला कर एक मानना अन्योन्याध्यास है। ऐसा करने से दोनों पदार्थों का ठीक २ भान नहीं रहता, दोनों ही बिगड़ जाते हैं। रायता और खीर दो पदार्थ हैं, रायते में डालने का नमक खीर में डाल दिया जाय और खीर में डालने की खांड रायते में डाल दी जाय तो क्या होगा? खीर और रायता दोनों ही बिगड़ जांयगे। इसी प्रकार अन्योन्याध्यास से देह और आत्मा दोनों ही का स्वरूप बिगड़ जाता है।

सत्, चित्, आनन्द और अद्वैतता आत्मा के विशेषण हैं, असत्, जड़, दुःख और द्वैतता अनात्म शरीर के विशेषण हैं, शरीर का दुःख और द्वैतपना आत्मा में डाल दिया और आत्मा का सत् और चित्पना अनात्मा शरीर में डाल दिया तब आत्मा आनंद और अद्वैतता के ढक जाने से दुखी और ऐश्वर्यादि से भिन्न हो ऐसा मालूम होने लगा और अनात्म शरीर का असत् पना और जड़ता ढक जाने से अनात्म शरीर सत्य और चैतन्य हो ऐसा मालूम होने लगा, दोनों ही अपने भाव में न रहे यह ही देहाध्यास है।

एक साहूकार था, उसकी उमर बहुत होने पर भी उसके कोई संतान न हुई, संतान के कारण उसने दूसरा विवाह किया थोड़े दिन पीछे नई स्त्री के लड़का उत्पन्न हुआ। साहूकार बड़ी स्त्री को चाहता था, उसने साहूकार से कहा "छोटी का लड़का

मेरी गोद बैठा दो, उस लड़के को मैं उसे नहीं दूंगी !" साहूकार ने बहुत समझाया परन्तु बड़ी स्त्री न मानी। अंत में छोटी का लड़का बड़ी की गोद बैठा दिया गया, वह उसे अपना लड़का कहने लगी, यदि छोटी स्त्री उस लड़के को अपना कह देती तो बड़ी अत्यंत ही क्रोधित हो जाती और दो चार दिन तक उस घर में कलह देवी का निवास हो जाता ! बड़ी स्त्री के इस प्रकार के स्वभाव वाली होने से साहूकार छोटी स्त्री को समझा देता था और वह मान भी जाती थी। कुछ दिनों में सौतों की आपस की ईर्षा यहां तक बढ़ गई कि बड़ी स्त्री छोटी के हाथ में भी लड़के को न देती। ईश्वर कृति अलौकिक है। बड़ी स्त्री के भी गर्भ रह गया और उसके भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय गोद में बैठा हुआ लड़का सात वर्ष का था। एक दिन छोटी स्त्री ने साहूकार से कहा "स्वामिन् ! अब मेरा पुत्र मुझे दिलवा देना चाहिये।" साहूकार ने बड़ी स्त्री से पुत्र दे देने को कहा परंतु उसने न माना और कहा "यह पुत्र तो मेरा हो चुका है, मैंने इसे बड़ा किया है, मैं किसी प्रकार से भी उसे न दूंगी।" अंत में बड़ी बहुत कहने सुनने से अपना छोटा लड़का देने को राजी हो गई। बड़ी का छोटा लड़का छोटी की गोद बैठा दिया गया। छोटी उसे अपना लड़का मानने लगी और सौत के बड़े लड़के से द्वेष करने लगी। इसी प्रकार बड़ी स्त्री बड़े लड़के को अपना मान कर छोटे से द्वेष करने लगी। दोनों का द्वेष दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। लड़के भी जिनके उदर से उत्पन्न हुए थे उन्हीं को द्वेष दृष्टि से देखने लगे। दोनों स्त्रियां यही चाहती थीं कि पति

के पश्चात् हमारा लड़का ही मिलकियत का मालिक हो। एक दिन बड़ी ने विचार किया "यदि छोटी का लड़का विष देकर मार दिया जाय तो सब मिलकियत का मालिक मेरा लड़का हो जाय।" उसी दिन छोटी ने भी ऐसा ही विचार किया। बड़ी स्त्री ने बरफी में थोड़ा विष मिला कर छोटी के लड़के को खिलाने को रख छोड़ी इसी प्रकार छोटी ने विष मिलाये हुए सेब बना रक्खे। छोटी का लड़का सेवों का प्रेमी था छुपाये हुए सेब चोरी से लेकर खा गया और थोड़ी देर में चल दिया। उधर बड़ी का लड़का बरफी खाने का प्रेमी था उसने छुपी हुई बरफी चुरा कर खा ली। वह भी प्राण दे बैठा। दोनों गये।

यह ही अन्योन्याध्यास है, नाश करने वाला यही है। अपने लड़के को दूसरे का मानना और दूसरे के लड़के को अपना मानना यह ही अज्ञान है। आत्मा में अनात्म शरीर भाव और शरीर रूप अनात्मा में आत्म भाव रखने का यही परिणाम है। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर आत्मा नहीं है, इसलिये शरीर तू नहीं है और वह माया का होने से उसका तुझ चैतन्य स्वरूप से कुछ सम्बन्ध भी नहीं है, इसलिये वह तेरा भी नहीं है; वह माया का है और पंचभौतिक है। तू उससे भिन्न चैतन्य स्वरूप है ऐसा मान।

अन्नमय कोश।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों में से हर एक क्रम से एक एक के भीतर है। इन तीन शरीरों में पांच कोश हैं, शरीर और कोश एक ही वस्तु हैं, शरीर भिन्न हो और कोश भिन्न हों ऐसा नहीं है। कोश म्यान का नाम है। जिस प्रकार तलवार म्यान में रहती है—म्यान तलवार को ढकने वाला है इसी प्रकार कोश आत्मा को ढकने वाले हैं। अथवा कोश नाम भंडार का है। जैसे भंडार में धन रहता है, भंडार धन को ढकता है इसी प्रकार कोश आत्मा को ढकते हैं। कोशकार एक कीड़े का नाम है, उसके रहने के स्थान को कोश कहते हैं। जिस प्रकार घर उस जंतु को ढकता है ऐसे ही कोश आत्मा को ढकते हैं।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पांचों कोशों के नाम हैं। स्थूल शरीर को अन्नमय कहते हैं, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय ये तीन कोश सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं और कारण शरीर आनन्दमय कोश को कहते हैं।

तीनों शरीर माया के हैं इसलिये पांच कोश भी माया के हैं। स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर के भीतर कारण शरीर है। इसी प्रकार पांच कोशों में भी क्रम से एक से एक सूक्ष्म हैं। अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय, प्राणमय के भीतर मनोमय, मनोमय के भीतर विज्ञानमय और विज्ञानमय के भीतर आनन्दमय कोश है।

स्थूल शरीर रूप जो अन्नमय कोश है वह माता पिता के खाये हुए अन्न से बने हुए रस रूप पिता के वीर्य और माता के रज से माता के उदर से उत्पन्न होता है। उत्पन्न हो कर कुछ दिन तक माता के दूध रूप अन्न से फिर प्रत्यक्ष अन्न से वृद्धि को प्राप्त होता है और अन्त में मरण समय अन्न रूप पृथ्वी में लीन हो जाता है। जो स्थूल है, दृष्टि का विषय है, और दृश्य है वह अन्नमय कोश है। अन्नमय कोश आत्मा नहीं है, आत्मा उससे भिन्न है। अन्नमय कोश सुख दुःख भोगने का स्थान रूप है, उसकी उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय देखने में आते हैं; वह विकारी है और असत्य है। आत्मा उत्पत्ति आदिक विकार वाला नहीं है इसलिये अन्नमय कोश अर्थात् स्थूल शरीर आत्मा नहीं है।

अन्नमय कोश त्वचा, मांस, रक्त, हड्डी और विष्टा का समुदाय है, अशुद्ध है, आत्मा शुद्ध है। अन्नमय कोश नियम में रहने वाला है, आत्मा उसे नियम में रखने वाला है; अन्नमय कोश जड़ है, आत्मा चेतन है। अन्नमय कोश हाथ, पग, मस्तक आदि, अंग उपांग सहित है, आत्मा अवयव रहित है; शरीर मरने वाला है, आत्मा अमर है। शरीर शक्ति वाला और शक्ति रहित होता है, आत्मा अखंड एक स्वरूप अविकारी है। शरीर माया के तीन गुणों से बना है, आत्मा गुणातीत है। शरीर वर्ण आश्रम आदिक धर्म वाला है, आत्मा इस प्रकार के सब धर्मों से रहित है। इस प्रकार दोनों की विलक्षणता होने से शरीर कभी आत्मा नहीं हो सकता। अज्ञानी मनुष्य स्थूल शरीर–अन्नमय

कोश ही आत्मा है ऐसा बर्ताव करने से आत्मघाती होते हैं, और अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं।

पांच मित्र थे। जो कुछ वे करते एक दूसरे की सम्मति से किया करते। शरीर से पांचों अलग २ थे, किन्तु मन से पांचों जुड़े हुए थे। पांचों में से एक राजा था, दूसरा उसका प्रधान था, तीसरा सरदार था, चौथा साहूकार था और पांचवां नौकर था। एक समय राजा राज काज पंचों को सौंप करके चार मित्रों सहित मुसाफिरी करने निकला। पांचों के पास उत्तम जाति के घोड़े थे। दिन भर चल कर शाम को वे एक वन में पहुंचे, आसपास कोई ग्राम दिखाई न दिया। सबने मिल कर निश्चय किया कि रात्रि जंगल में व्यतीत करनी चाहिये। आसपास देखने से एक सघन वृक्ष की छाया दीख पड़ी, उसके नीचे एक शिवालय दिखाई दिया, उसमें विश्राम करने को सब उतर पड़े। जो कुछ उनके पास था सबने मिल कर भोजन कर लिया और पास की बावड़ी में से जल पी लिया, फिर सोने को आसन लगाया। सबके पास हथियार थे, सबने एक साथ सोना योग्य न समझा। "जंगल का स्थान है, उजाड़ है, जीव जन्तु और शिकारी पशुओं का भय है, बाहर पांच घोड़े बंधे हुए हैं," ऐसा विचार कर सबने निश्चय किया कि पांच घंटे रात्रि जो शेष है उसमें चार मनुष्य सोते रहें और एक पहरा देता रहे, इस प्रकार रात्रि व्यतीत करें। घंटे भर पीछे पहरा देने वाला दूसरे को जगा कर आप सो जाय।

चारों मित्र सो गये, नौकर पहरा देने लगा। थोड़ी देर में उसने विचार किया "रात्रि में हम यहां आये हैं, मंदिर हमने देखा नहीं है, देखूं मंदिर के आस पास क्या है ?" इस प्रकार विचार कर वह मंदिर के आस पास देखने लगा तो मंदिर के एक कोने में उसे एक गुफा दिखाई दी। गुफा के भीतर जाकर देखा तो उसमें एक साधु समाधि लगाये बैठा हुआ पाया। वह कान्तिमान और युवा था। उसके पास एक अलौकिक प्रकाश दीखता था। थोड़ी देर में साधु ने समाधि छोड़कर आंखें खोलीं और थोड़ी मिट्टी हाथ में लेकर एक मंत्र का उच्चारण किया। मंत्र उच्चारण करने से मिट्टी में से एक प्रकार का शब्द उत्पन्न हुआ। मिट्टी को बोलती देखकर नौकर को बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत सी हड्डियां शब्द करती हुई मालूम हुईं, मिट्टी हड्डियों की आकृति में बदल गई, और हड्डियों का ढेर दिखाई दिया। नौकर ने घड़ी निकाल कर देखा तो घंटा पूर्ण हो गया था, उसको नींद सता रही थी इसलिये साहूकार को पहरा देने के लिये जगा कर वह सो रहा। जो आश्चर्य उसने देखा था, उसकी कोई बात उसने साहूकार से न कही, साधु का बोला हुआ मंत्र उसने याद कर लिया था।

साहूकार अपने शस्त्र संभाल कर पहरा देने लगा। थोड़ी देर में जब उसने अपनी दृष्टि फेरी तो उसे मंदिर के छिद्र में से प्रकाश दिखाई दिया, छिद्र के पास गया तो गुफा दिखाई दी, उसमें साधु बैठा हुआ दिखाई दिया, वह समाधि लगाये हुए था। साहूकार

देख ही रहा था कि इतने में साधु ने समाधि छोड़ कर नेत्र खोले और सामने पड़े हुए हड्डियों के ढेर पर हाथ फेर एक एक मंत्र बाला। तुरन्त हड्डियों में से शब्द हुआ "चलिये एक दूसरे से संयुक्त हो जाइये" शब्द के साथ सब हड्डियां जुड़ गईं, उनमें मांस भर गया और हड्डियों का स्पर्श करने योग्य शरीर बन गया जो मंत्र साधु ने पढ़ा था साहूकार ने याद कर लिया और घंटा पूर्ण होने से सरदार को जगा कर सो गया, मित्र से कुछ न कहा।

सरदार अपने शस्त्र लेकर पहरा देने लगा। प्रथम तो वह घोड़ों की तरफ गया, पांचों घोड़े आराम से सोते पाये, किसी प्रकार का उपद्रव न देखा। मंदिर के चारों तरफ चक्कर लगा कर उसने देखा तो वहां भी किसी प्रकार की आपत्ति न देखी। पश्चात् उसने मंदिर के पास आ कर देखा तो साधु वाली गुफा दिखाई दी, उसमें दिव्य प्रकाश हो रहा था। मंदिर के भीतर जाकर जो उसने देखा तो साधु को गुफा में खुले नेत्रों से ध्यानावस्था में बैठा पाया। थोड़ी देर में साधु नेत्र घुमाने लगा और पास ही मांस सहित जो हड्डियों का पिंजर पड़ा था उसके ऊपर दृष्टि करके उसने एक मंत्र पढ़ा। मंत्र पढ़ते ही पिंजर पुष्ट होने लगा और जीवित हो इस प्रकार की चेष्टा वाली आकृति में आ गया। जो मांस था वह कठिन हो गया, सब शरीर की खाल बंध गई, सब पिंजर स्नायु युक्त हो गया और सुन्दर दीखने लगा। फिर साधु ने अपनी दृष्टि हाड़ पिंजर पर से हटा ली और वह कुछ विचार करता हुआ दीखा। सरदार ने वह मंत्र याद कर लिया और घड़ी देखी तो

घंटा पूर्ण हो गया था इसलिये वह प्रधान को जगा कर बिना कुछ कहे हुए सो गया।

प्रधान पहरा देने लगा। वन में किसी पशु का शब्द सुनाई न दिया, सब स्थान शान्तिमय था और अंधकार छा रहा था। थोड़े थोड़े चमकते हुए तारों के सिवाय आकाश में और कुछ नहीं दीखता था। प्रधान अपने चारों साथी और पांचों घोड़े निश्चिंतता से सोते हुए देख कर मंदिर के आस पास देखने लगा। मंदिर में प्रकाश देख कर वह उसकी तरफ गया तो उसने वहां साधु बैठा हुआ देखा और उसके सामने हड्डियों का पिंजर पड़ा हुआ पाया। साधु किसी विचार में मालूम होता था, विचार के प्रवाह में कभी २ उसके अंग हिलते दीखते थे। प्रधान ने उससे बात चीत करना चाहा परन्तु उसकी हिम्मत न पड़ी "साधु है या कौन जाने कौन है! कोई प्रेत अथवा राक्षस हो तो क्या आश्चर्य! कुछ उपद्रव तो करता ही नहीं, फिर छेड़ना भी क्यों? जब कोई आपत्ति आती दीखेगी तब देखा जायगा।" ऐसा विचार कर प्रधान उससे कुछ न बोला। साधु ने हाड़ पिंजर की तरफ दृष्टि करके कमंडल में से थोड़ा जल लेकर और एक मन्त्र पढ़ कर छींटा दिया, छींटा देते ही सुन्दर आकृति वाला मृग चमकने लगा। कोई पालतू मृग तुरन्त ही मर गया हो अथवा बिना श्वास लिये सो रहा हो इस प्रकार वह दिखाई देता था। सूक्ष्मता से देखने से मालूम होता था कि उसकी श्वास नहीं चलती और वह जीवित नहीं है। साधु ने इतनी क्रिया कर के मृग की तरफ से मुख फेर लिया। प्रधान ने मन्त्र याद कर लिया, घड़ी में देखा तो

घंटा पूरा हो गया था इसलिये वह राजा को जगा कर विना कुछ कहे हुए सो गया।

राजा जाग कर दो तीन बार खखारा परन्तु उससे कोई न जागा। तब वह घोड़ों की तरफ गया, उन्हें भी सोता हुआ पाया। फिर इधर उधर घूमता हुआ वह मन्दिर की तरफ गया, वहां गुफा के द्वार पर उसकी दृष्टि पड़ी और साधु बैठा हुआ दिखाई दिया। राजा चुपचाप खड़ा हो गया और साधु क्या करता है, देखने लगा। साधु ने हाथ में भभूति ली और एक मन्त्र पढ़ कर सामने पड़े हुए हरिण पर डाली, हरिण सजीव हो गया और साधु को प्रेम पूर्वक चाटने लगा। राजा ने मन्त्र याद कर लिया। थोड़ी देर में कौवे शब्द करने लगे। कौवों के शब्द के साथ ही गुफा, साधु और हरिण अदृश्य हो गये।

चारों मित्र उठ बैठे। प्रातःकाल होने से सब ने दांतोन कुल्ला कर के स्नान किया और कुछ भोजन कर के अपने २ घोड़े पर सवार होकर पांचो चल दिये। दो पहर होने पर विश्रांति लेने को एक पेड़ के नीचे उतरे, वहां नौकर ने कहा "कल रात्रि को मन्दिर में मैंने एक आश्चर्य देखा था। क्या आप लोगों ने भी कुछ देखा? एक ने कहा "क्या देखा था ?" तब उसने अपना सब वृत्तांत सुनाया। इसके पीछे सब ने अपना २ वृत्तांत सुनाया। पांचों मित्र सब वृत्तांत सुन अत्यंत हर्षित हुए। मिट्टी में से जीवित प्राणी उत्पन्न करने की अद्भुत विद्या प्राप्त होने से सबने अपने को भाग्य वाला समझा।

जो साधु के कहने से हुआ था वही फल मन्त्र उच्चारण करने से हो या न हो इसकी परीक्षा करने को सब ने मंत्रणा की। प्रथम नौकर ने थोड़ी मिट्टी हाथ में लेकर मन्त्र उच्चारण किया। तुरन्त ही शब्द हुआ और सामने हड्डियों का ढेर हो गया। साहूकार ने हड्डियों से हाथ लगा कर मन्त्र उच्चारण किया 'चलिये चलिये, एक २ से मिलिये।' शीघ्र ही शब्द हुआ और सब हड्डियां जुड़ गई। सरदार ने मांसयुक्त हड्डियों की तरफ देख कर मन्त्र पढ़ा, हाड़ पिंजर पुष्ट और चमकदार बन गया। प्रधान ने जल से मन्त्र पढ़ा और हाड़ पिंजर पर छिड़का। जल छिड़कते ही हड्डियों का एक विकराल सिंह बन गया, केवल श्वास चलना बाकी था। सिंह को देख कर सब घबराये और राजा से विनती करने लगे "आप अपना मन्त्र पढ़ कर भभूती छिड़कना बन्द कीजिये नहीं तो सिंह सजीव हो जायगा।" राजा ने कहा "वाह! यह कैसे हो सकता है? तुम चारों ने तो अपने २ मन्त्र की परीक्षा करली। मैं बिना परीक्षा किये कैसे रह सकता हूं?" हमेशा राजा आदिक सब एक दूसरे का कहना माना करते थे इस समय राजा ने किसी का कहना न माना। राजा ने भभूती हाथ में ली, अन्य चार मित्र घबराकर भागने लगे। ज्यों ही राजा ने मंत्र बोल कर सिंह के हाड पिंजर पर भभूती छिड़की कि तुरंत ही एक विकराल सिंह सजीव हो गया। प्रथम उसने राजा को मारा और फिर दौड़ कर चारों भागते हुओं को भी पंजों से मार डाला। "राजा दुराग्रह से अपने प्राण खो बैठा और साथ में अपने मित्रों को भी ले मरा।"

साधु, मंदिर, पांचों मित्र आदिक सब पदार्थ भ्रमात्मक कल्पना के कारण से एक ही तत्त्व में भिन्न भिन्न मालूम होने लगते हैं। वह कल्पना बढ़ते बढ़ते यहां तक बढ़ जाती है कि द्वैत भाव में दुखी करती है। जिस साधु ने गुफा में से मंत्र उच्चारण किया था वह साधु वेद है, जिसमें मंत्र का उच्चारण हुआ वह अधिष्ठान ब्रह्म है, मृत्तिका आत्म तत्त्व है, और पांच मित्र माया के भाव से उत्पन्न हुए, पांच महाभूत स्वरूप पांच कोश हैं। आकाश तत्त्व का आनन्दमय कोश सब का अवकाश देने रूप सेवा का कार्य करने वाला होने से नौकर है, वायु का विज्ञानमय कोश वस्तुओं को इधर उधर कर देने वाला होने से, साहूकार है; अग्नि का मनोमय कोश, अग्नि तेज स्वरूप शौर्य और प्रकाश वाला होने से सरदार है; प्राणमय कोश जल स्वरूप सब की व्यवस्था ठीक करने वाला होने से प्रधान है; और अन्न-मय कोश पृथ्वी तत्त्व स्वरूप सब से विशेष भारी स्थूल और मुख्य होने से राजा है। जिस प्रकार साधु के उच्चारण किये हुए मंत्रों ने अधिष्ठान रूप तत्त्व में कल्पना के दूसरे चित्र उत्पन्न किये थे इसी प्रकार कोश आत्मा को ढक कर उसमें काल्पनिक स्वरूप खड़े कर देते हैं। जैसे एक एक मंत्र क्रम क्रम से उत्तरोत्तर स्थूल भाव में लाने का कारण हुआ और जैसे सजीव करने वाले पांचवें मंत्र के बिना और मंत्र कार्य करने में समर्थ न हुए इसी प्रकार अन्नमय कोश बिना ऊपर के कोश कर्ता भोक्ता बनने के योग्य नहीं होते। अन्नमय कोश रूप अभिमान वाले राजा ने जब अपना मंत्र पढ़ा-अभिमान दृढ़ किया तब पांचों कोश

रूप पांचों मित्रों का क्षय होकर स्थूल शरीर रूप सिंह अवशेष रहा। पंच कोश रूप सिंह वेद रूप कर्म भाव से बना है। सिंह के मूल तत्त्व रूप मृत्तिका—आत्मा में किंचित् विकार न हुआ। क्रम २ से पंच कोश मिलने से सिंह की आकृतियों में अन्तर होता गया। आकृतियां सब कल्पित हैं, अन्तिम सिंह रूप सजीव आकृति भी कल्पित है। कल्पित का भाव इतना दृढ़ हो गया कि कल्पित आकृतियां सच्ची बन गईं और उन्होंने यथार्थ तत्त्व को इतना ढक दिया कि वह प्रसिद्ध मृत्तिका होते हुए भी अप्रसिद्ध सिंह बन गया।

कोश रूप पांच मित्र और सिंह रूप स्थूल शरीर से मृत्तिका रूप आत्म तत्त्व भिन्न है, इसलिये पंच कोश वाला स्थूल शरीर आत्मा नहीं है, और स्थूल शरीर कल्पना का होने से सत्य स्वरूप आत्मा का उससे कुछ सम्बन्ध नहीं है। इसलिये अन्नमय कोश 'मैं' अथवा 'मेरा' नहीं है और जो उसे 'मैं' अथवा 'मेरा' मान कर वर्तता है उसको कष्ट ही प्राप्त होता है।

पंच कोश एक दूसरे में किस प्रकार रहते हैं यह समझाने के लिये ऊपर का दृष्टांत दिया है। जिस अंश में दृष्टांत दिया गया है उसी अंश में उसका तात्पर्य निकालना चाहिये। सब अंशों में एक सा मिलने वाला आत्म बोध का कोई दृष्टांत नहीं है। अन्नमय कोश का अभिमान अभिमानी को दुःख में डालने वाला है, उसको आत्मा से पृथक् करके समझना चाहिये। अन्नमय कोश भौतिक है, माया का है। जब तक उसका भाव—अभिमान है तब

तक माया, संसार और उसके दुःखों में से किसी की भी निवृत्ति नहीं होती, ब्रह्म प्राप्ति स्वरूप ज्ञान से ही दुःखों की निवृत्ति होती है। अन्नमय कोश का भान-अभिमान ज्ञान को रोकने वाला है इसलिये विवेकी पुरुषों को अन्नमय कोश आत्मा से पृथक् समझना चाहिये।

अथवा ऐसा समझो कि पांच कटोरदान हैं जो क्रम से एक दूसरे से छोटे हैं। पांचों बन्द करके एक एक के भीतर रक्खे हैं; सब से भीतर रक्खे हुए कटोरे में एक हीरा रक्खा है। हीरा आत्मा है और पांच कटोरे पांच कोश हैं। ऊपर वाला सब से बड़ा कटोरा अपने से छोटे चार कटोरों को और हीरे को छुपा देता है और आप ही देखने में आता है। इसी प्रकार अन्नमय कोश भी प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों को आत्मा सहित छुपा कर आप ही देखने में आता है।

अन्य प्रकार से ऐसे समझो कि जाड़े की ऋतु में शिमला जैसे पहाड़ पर कोई सो रहा है, शिर से पैर तक कपड़े ओढ़े हुए है। सब से प्रथम एक महीने कपड़ा ओढ़ा है, उसके ऊपर मलीदा है, उसके ऊपर रेशमी अन्डी है, उसके ऊपर कानपुरी धुस्सा है और सब से ऊपर एक कम्बल है। इस प्रकार ओढ़ कर सोने से मोटे कम्बल के सिवाय और कपड़ा नहीं दीखता और सोने वाला स्वयं भी नहीं दीखता इसी प्रकार अन्नमय कोश चारों कोशों और आत्मा को छुपा कर आप ही दीखने में आता है।

अथवा यों समझो कि किसी किसान ने अपने खेत में गेहूँ बोये हैं, बोया हुआ गेहूँ जो ऊपर से नहीं दीखता उसे आत्मा समझो। पृथ्वी जो दीखती है उसको आनन्दमय कोश समझो, पश्चात् वायु, जल और प्रकाश से जो अंकुर निकलता है उसे विज्ञानमय जानो। बढ़ा हुआ अंकुर मनोमय कोश, बालें निकलना प्राणमय कोश और बालों के भीतर जमे हुए गेहूँ को अन्नमय कोश समझो। इसने अपने ऊपर के चारों कोशों के भावको छुपा लिया है और आप ही दीखता है यद्यपि यह पूर्व के चारों कोशों सहित है।

इन दृष्टांतों से समझ में आ गया होगा कि आत्मा भिन्न है और कोश भिन्न हैं। आत्मा के प्रकाश से कोश प्रकाशित होते हैं किंतु कोश आत्मा नहीं हैं। इसी प्रकार कोश आत्मा के भी नहीं हैं, क्योंकि दोनों समानता वाले नहीं हैं। आत्मा सत् पदार्थ है, कोश कल्पित हैं, फिर दोनों का सम्बन्ध किस प्रकार हो? संबंध न होते हुए भी सम्बन्ध मानना अथवा अन्नमय कोश को ही आत्मा मानना भूल है। इस भूल के कारण संसारमें दुःख भोगना पड़ता है। परलोक के मानने वाले सभी आस्तिकों को अन्नमय कोश रूप शरीर से आत्मा को पृथक् मानना इष्ट है।

एक मनुष्य एक संत के पास गया और प्रणाम करके बैठ गया। फिर संत और उस मनुष्य में यह बात चीत हुई:-संतः— भाविक! तूने किसको प्रणाम किया है? मनुष्यः—(हाथ जोड़ कर) महाराज, आपको! संतः—मैं कौन हूँ? जिसको तूने

प्रणाम किया। मनुष्यः—आप महात्मा हैं। संतः—महात्मा कौन है ? मनुष्यः—आप हैं। संतः—मैं कहां हूँ ? मनुष्यः—आप मेरे सामने विराजमान हैं। संतः—(अपने नीचे के आसन को हाथ लगा कर) तेरे समाने तो यह मृग चर्म है, क्या यह ही महात्मा है ? मनुष्यः—नहीं, वह तो मृग चर्म है, महात्मा तो आप हैं। संतः—मृग चर्म महात्मा नहीं है तो क्या नर चर्म महात्मा है ? मृग चर्म के ऊपर नर चर्म विराजमान है, क्या तूने उसी को प्रणाम किया है ? मनुष्यः—नहीं, महाराज ! सन्तः—तो जिसको तूने प्रणाम किया है उसको दिखला। मनुष्यः—(घबरा कर) आप सब कुछ जानते हैं, मैं क्या कहूँ ? संतः—अच्छा, यदि तूने जिसको प्रणाम किया है उस महात्मा को नहीं दिखला सकता तो जिसने महात्मा को प्रणाम किया है उसको ही दिखला। मनुष्यः—मैंने प्रणाम किया है। मैं आपके सामने बैठा हूँ। सन्तः—मेरे सामने तो अन्न से बने हुए अस्थि, मांस, मेद, रक्त, मज्जा, स्नायु आदिक का पुतला है। क्या वही तू है ? मनुष्यः—हां महाराज। सन्तः—अरे मूर्ख ! तू अपने को हड्डी आदिक का पुतला बताता है। यदि कोई तेरे सामने गीली हड्डी मांस लावे तो क्या तू दूर नहीं भागेगा ? मनुष्यः—(हाथ जोड़ कर) महाराज ! ये पदार्थ अपवित्र हैं। दुर्गंधियुक्त हैं। मैं उन्हें देख कर अवश्य भागूँगा। उन्हें देख कर मुझे घृणा होगी। सन्तः—तब क्या तू अपने को भी उन्हीं दुर्गंधित पदार्थों का बना हुआ समझता है क्या ऐसा घृणित पदार्थ ही तू है ? मनुष्यः—(थोड़ी देर सोच कर) मैं हड्डी मांस का बना हुआ हूं तो भी मुझमें जीव है—

आत्मा है, इसलिये वह अपवित्र नहीं है। सन्तः-क्या शरीर में जीव भी है? मनुष्यः-हां महाराज। सन्तः-क्या वही जीव तू नहीं है? क्या तू हड्डी मांस का पुतला ही है? मनुष्यः-(लज्जित होकर) नहीं महाराज, मैं शरीर नहीं हूँ। मैं तो जीव हूँ। संतः-(मुसकरा कर) प्रथम तो तू शरीर बनता था, अब शरीर को छोड़ कर जीव बनता है। तू शरीर नहीं है, यह तू आप ही स्वीकार करता है, तब तेरे शरीर पर मार पीट हो तो तुझको क्या? शरीर अलग है। तू अलग है। मनुष्यः-मैं शरीर नहीं हूँ परन्तु शरीर मेरा है इसलिये शरीर का दुःख मुझको-जीव को होता है। सन्तः-क्यों? मनुष्यः-क्योंकि शरीर से मेरा सम्बन्ध है। सन्तः-किस प्रकार का सम्बन्ध है? जीव देखने में नहीं आता, शरीर देखने में आता है, दोनों का सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है? मनुष्यः-जब जीव का सम्बन्ध शरीर से नहीं रहता तब शरीर अपवित्र हो जाता है-मृतक हो जाता है इससे अनुमान होता है कि उसमें जीव है, उसके होने से ही मनुष्य जीवित कहलाता है, जब वह नहीं होता तो मृतक कहलाता है। सन्तः-क्या जीव कहीं चला भी जाता है? मनुष्यः-अवश्य चला जाता है, जब वह चला जाता है तब शरीर निर्जीव होजाता है। सन्तः-जीव कहां चला जाता है? मनुष्यः-मालूम नहीं। वह जाता हुआ दीखता नहीं। सन्तः-शरीर में टिका हुआ तो शरीर के भीतर होने से नहीं दीखता। शरीर में से निकलता हुआ तो दीखना चाहिये। मनुष्यः-आप सब कुछ जानते हैं। शास्त्र ज्ञान और अनुभव दोनों ही आपको प्रत्यक्ष हैं। आप मुझसे यों ही

पूछ रहे हैं। सन्तः-यों ही नहीं पूछता हूँ, पूछने का कारण है, तेरी समझ में आ जाय इसलिये पूछता हूँ। जैसा तेरी समझ में आवे वैसा उत्तर देता जा। जाता हुआ जीव क्यों नहीं दीखता ? मनुष्यः-यह तो आप ही जानते होंगे। सन्तः-मैं तो जानता ही हूँ। तू जैसा जानता हो वैसा उत्तर दे। मनुष्यः-बहुत सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पड़ता होगा। आज तक किसी ने जाते हुए जीव को नहीं देखा है। सन्तः-तेरे कहे अनुसार जब जीव शरीर में से चला जाता है तब शरीर में से क्या कम हो जाता है ? मनुष्यः-कोई भी अंग कम नहीं होता, शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है। श्वास आना जाना बन्द होजाता है। संतः-तब क्या श्वासोश्वास जीव था ? मनुष्यः-(घबरा कर) मैं नहीं जानता वह ही है या और है। आप ही समझाइये। सन्तः-श्वास का आना जाना पूर्ण समाधि में बन्द हो जाता है तब क्या जीव नहीं रहता ? ऐसा नहीं है जो जीव चला जाता होता तो क्रिया किस प्रकार करता ? यदि ऐसा कहा जाय कि उतने समय को चला जाता है तो ऐसा होने पर शरीर मृतक हो जाता, परन्तु वह मृतक नहीं होता, इसलिये प्राण जीव नहीं है और जब तू जीव को जानता ही नहीं तो उसका और शरीर का संबंध कैसे बताता है ? जिस प्रकार तू शरीर नहीं है इसी प्रकार तेरा और शरीर का संबंध भी नहीं है इसलिये शरीर तेरा नहीं है। मनुष्यः-जब मैं और मेरा शरीर नहीं हैं तो शरीर के सुख दुःख का भान मुझे क्यों होता है ? दुःख तो संबंध से ही होता है। संतः-ठीक है, सम्बन्ध बिना दुःख नहीं होता, सम्बंध न होते हुए भी

यदि सम्बन्ध मान लिया जाय तो दुःख होता है या नहीं ? मनुष्यः—जो संबंध मान लिया जाता है तो दुःख अवश्य होता है। संतः—इसी कारण दुःख होता है। शरीर और आत्मा का संबंध नहीं है, अज्ञान के कारण सम्बन्ध मान लिया है इसलिये दुःख भोगना पड़ता है। मनुष्यः—(आश्चर्ययुक्त हो कर) तो क्या शरीर और आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ? बड़ा आश्चर्य है ! सम्बन्ध न होते हुए भी कितना गाढ़ा सम्बन्ध हो गया है। यदि सम्बन्ध न मानें, तो क्या दुःख न होगा। संतः—कभी नहीं होगा। जब किसी कारण से किसी मनुष्य के शरीर में से किसी अंग के काटने की आवश्यकता होती है तो डाक्टर एक प्रकार की औषधि (Chloroform) सुंघा देता है उससे जिस बुद्धि कर के आत्मा और शरीर का सम्बन्ध माना था वह सम्बन्ध मानने वाली बुद्धि थोड़ी देर को दब जाती है, जिस से उस समय जीव को दुःख का भान नहीं होता। उस समय भी आत्मा और शरीर दोनों ही होते हैं। उन दोनों का जो वास्तविक सम्बन्ध होता तो उस समय भी दुःख का भान होता, परन्तु नहीं होता इसलिये उन दोनों का सम्बन्ध माना हुआ—कल्पित है। ज्ञानी इस सम्बन्ध को जितना न्यून कर देता है उतना ही दुःख न्यून मालूम होता है। विदेहमुक्त महात्माओं को शरीर का किंचित् भी दुःख नहीं होता। उन्हें अपना और दूसरों का शरीर मालूम ही नहीं होता। मनुष्यः—महाराज, अब मेरी समझ में आया कि मैं शरीर नहीं हूं और शरीर मेरा भी नहीं है। मेरा और उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है।

सूक्ष्म शरीर ।

सूक्ष्म शरीर तीनों शरीरों में मध्य का है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म होने के कारण वह सूक्ष्म शरीर कहलाता है। स्थूल शरीर को सब प्रकार की सत्ता सूक्ष्म शरीर से मिलती है। यदि स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर न हो-उससे पृथक् हो तो स्थूल शरीर निर्जीव; मृतक, अथवा मिट्टी कहलावे। स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर होने से ही वह सजीव कहा जाता है। कर्ता भोक्ता के भाव वाला सूक्ष्म शरीर है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के मकान अथवा कपड़ों के समान है। जब तक आवश्यकता होती है तब तक सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को धारण किये रहता है, आवश्यक भोग पूर्ण हो जाने पर वह पृथक् होकर भोग भोगने योग्य अन्य अनुकूल शरीर धारण कर लेता है। इसलिये यदि विचार कर देखा जाय तो सूक्ष्म शरीर ही वास्तविक शरीर है, स्थूल शरीर तो केवल उसका स्थान रूप ज्ञान और क्रिया का साधन मात्र है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म हो कर भी जब स्थूलता रहित स्वप्नावस्था में आता है तब सूक्ष्म न दीखता हुआ स्थूल रूप से ही दिखाई देता है। स्थूल शरीर की अपेक्षा वह सूक्ष्म है और कारण शरीर की अपेक्षा स्थूल है।

जो कुछ जगत् देखने में आता है वह सूक्ष्म शरीर की छाया मात्र है। जैसे जब दर्पण में मुख देखते हैं तब अपना मुख अपने पास होता हुआ भी बाहर दर्पण में दीखता है इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में संसार दीखता है। बाहर दीखने वाला संसार उसी का आभास है, सब संसार हमारी वासना-भावना का ही दृश्य है, परंतु बाहर की दृष्टि होने से बाहर दीखता है।

स्थूल शरीर उत्पत्ति नाश वाला सबको मालूम होता है, परंतु सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति तथा नाश मालूम नहीं होता। स्थूल शरीर के समान सूक्ष्म की उत्पत्ति नाश है भी नहीं। स्थूल शरीर की उत्पत्ति नाश के साथ उसकी उत्पत्ति अथवा नाश नहीं होता, क्योंकि अनादि अविद्याकृत होने से वह आदि रहित है, इसी लिये जब तक अज्ञान रहता है तब तक उसका नाश नहीं होता। वह वासनामय है, इसलिये वासनाओं के बदलने से वासनाओं के भाव से रूपांतर वाला अवश्य है, परन्तु उसका नाश कभी नहीं होता। वह स्थूल शरीर की सहायता बिना कार्य नहीं कर सकता, और अपने कारण रूप कारण शरीर से कभी भिन्न नहीं होता—सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर दोनों साथ ही साथ रहते हैं।

जब ज्ञानाग्नि से सूक्ष्म शरीर की समग्र वासनाओं का नाश हो जाता है तब कारण शरीर सहित उसका नाश होता है। कारण शरीर सूक्ष्म शरीर का कारण होकर भी कर्ता भोक्ता के अभिमान रहित अज्ञान का होने से उससे संयुक्त रहता है। सुषुप्ति अवस्था जो कारण शरीर की स्वतन्त्र अवस्था है उसमें भी वह सूक्ष्म शरीर से भिन्न नहीं होता, किंतु सुषुप्ति के विशेष प्रभाव से सूक्ष्म शरीर दब जाता है।

स्थूल शरीर का नाश होना नाश नहीं है किंतु अज्ञान की ग्रंथि रूप सूक्ष्म शरीर का नाश ही पूर्ण नाश है। वह अपंचीकृत पंच महाभूतों का बना हुआ होने से पंच महाभूतों में से भी कोई उसका नाश नहीं कर सकता किन्तु अज्ञान का बना हुआ होने

से स्वरूप के ज्ञान होने से उसका नाश हो जाता है। वह अनादि कल्पित माया का है। जब स्वरूप के बोध होने से कल्पना का नाश हो जाता है तब कल्पना का होने से अनादि होते हुए भी कारण शरीर सहित उसका नाश हो ही जाता है।

सूक्ष्म शरीर त्रिगुणात्मक अप्रत्यक्ष पंच, महाभूतों का बना हुआ है। जैसे स्थूल शरीर में पंच महाभूतों का एक दूसरे से मिल कर स्थूल भाव हुआ है सूक्ष्म शरीर में इस प्रकार नहीं है, इसलिये सूक्ष्म शरीर स्थूल दृष्टि का विषय नहीं है। सूक्ष्म शरीर वासनाओं के फल को भोगने वाला, अनुभव करने वाला, और नूतन वासनाओं का उत्पन्न करने वाला है। कोई इसको लिंग शरीर भी कहते हैं। स्वस्वरूप के अज्ञान से वह आत्मा की अनादि दूसरी उपाधि है। पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच प्राण, पंचभूत, बुद्धि, अविद्या, काम और कर्म इन आठ का समुदाय रूप सूक्ष्म शरीर है, इसलिये इसको पुर्यष्टका भी कहते हैं। इन्द्रियों के अध्यात्मिक, अधिदैविक और अधिभौतिक तीन रूप हैं। वाक्, पाणि, पाद, शिश्न और गुदा कर्मेन्द्रियों का अध्यात्मिक स्वरूप हैं। अग्नि, इन्द्र, विष्णु, प्रजापति और मत्यु अधिदैविक स्वरूप है और बोलना, लेना देना, चलना, आनन्द और मल त्याग अधिभौतिक स्वरूप है। इनको विषय भी कहते हैं। वे क्रम से पांच भूतों से हैं। ज्ञानेन्द्रियों की त्रिपुटी इस प्रकार है:—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण अध्यात्म हैं, दिशा, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनी कुमार अधिदेव हैं

और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध अधिभूत हैं। ये पांचों विषय भी क्रम से पांच भूतों से हैं।

कर्मेंद्रियों की त्रिपुटी का कोष्टक

भूत	अध्यात्म	अधिदेव	अधिभूत
आकाश	वाक्	अग्नि	बोलना
वायु	पाणि	इन्द्र	लेना देना
तेज	पाद	विष्णु	चलना
जल	शिश्न	प्रजापति	आनन्द
पृथ्वी	गुदा	मृत्यु	मल त्याग

वाक् मुख को, पाणि हाथ को, शिश्न लिङ्गेन्द्रिय को और आनन्द विषय भोग को कहते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों की त्रिपुटी का कोष्टक

भूत	अध्यात्म	अधिदेव	अधिभूत
आकाश	श्रोत्र	दिशा	शब्द
वायु	त्वचा	वायु	स्पर्श
तेज	चक्षु	सूर्य	रूप
जल	जिह्वा	वरुण	रस
पृथ्वी	घ्राण	अश्विनी कुमार	गंध

श्रोत्र कर्ण को, त्वचा चमड़ी को, जिह्वा जीभ को और घ्राण नासिका को कहते हैं।

अध्यात्मिक इन्द्रियां अति सूक्ष्म हैं। अधिदेव शक्तियों को कहते हैं, वे सूक्ष्म हैं। अधिभूत विषयों को कहते हैं वे स्थूल हैं। जैसे धातु अध्यात्म है, उसके पत्र अधिदेव हैं और उसका बना हुआ कटोरा अधिभूत है। उपरोक्त कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां जब त्रिपुटी सहित होती हैं तभी कार्य कर सकती हैं। इन्द्रियों के गोलक (द्वार) स्थूल हैं।

पांच प्राण इस प्रकार हैं:-प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान। प्राण हृदय स्थान में रहता है। दिन रात में २१६०० श्वासोश्वास लेना उसका काम है, जल उसका तत्त्व है। अपान गुदा स्थान में रहता है, मल त्याग उसका काम और तत्त्व पृथ्वी है। समान नाभिस्थान में रहता है, खाये पिये अन्न जल को जठराग्नि में पचाना और प्राण, अपान को समान रखकर चेष्टा कराना उसका काम और तत्त्व वायु है। उदान का स्थान कंठ है, पचे हुए अन्न जल का विभाग करना और कंठ में रहने वाली हिता नाड़ी द्वारा स्वप्न दिखाना, हिचकी और उत्क्रमण (मृत्यु समय शरीर से निकलना) उसकी क्रिया है और तत्त्व तेज है। व्यान शरीर के सब भागों में व्याप्त होकर रहता है, संधियों को मोड़ कर उनसे क्रिया कराना उसका काम और तत्त्व आकाश है।

प्राणों की त्रिपुटी का कोष्टक।

प्राण	स्थान	क्रिया	तत्त्व
प्राण	हृदय	श्वासोश्वास	जल
अपान	गुदा	मलत्याग	पृथ्वी
समान	नाभि	समानता	वायु
उदान	कंठ	उत्क्रमण	तेज
व्यान	सर्व शरीर	संधियों को मोड़ना	आकाश

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांचभूत हैं, इनको तत्त्व भी कहते हैं। सूक्ष्म शरीर के ये पांचों अपंचीकृत पांच तत्त्व हैं, पृथ्वी तत्त्व कठिन, जल तत्त्व गीला और प्रवाही, तेज तत्त्व गरम, वायु तत्त्व वहने वाला और आकाश तत्त्व अवकाश देने वाला है। बुद्धि बोध करती है। अविद्या अज्ञान है जो ज्ञान को ढांप कर और का और दिखलाती है। काम अनेक प्रकार की कामनायें—इच्छायें हैं। कर्म, कामनाओं के निमित्त की हुई क्रिया को कहते हैं। बुद्धि, अविद्या, काम और कर्म दूसरी रीति से समझाये जांय तो अन्तःकरण है। चार प्रकार कार्य करने से एक ही अन्तःकरण चार प्रकार का है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चारों अन्तःकरण के नाम हैं। ये चारों अध्यात्मिक कहे जाते हैं। चन्द्र, ब्रह्मा, नारायण और रुद्र उनके अधिदेव हैं, और संकल्प विकल्प, निश्चय, चिंतवन और अहंभाव अधिभूत हैं।

अन्तःकरण की त्रिपुटी का कोष्टक ।

अध्यात्म	अधिदेव	अधिभूत
मन	चन्द्र	संकल्प, विकल्प
बुद्धि	ब्रह्मा	निश्चय
चित्त	नारायण	चिंतवन
अहंकार	रुद्र	अहंभाव

पुर्यष्टका (सूक्ष्म शरीर) में जो बुद्धि, अविद्या, काम, कर्म कहे हैं वे अन्तःकरण इस प्रकार समझने चाहियेः—कर्म मन है, बुद्धि बुद्धि है, काम चित्त है और अविद्या अहंकार है। मन चन्द्र रूप दैवत (शक्ति) के सहारे से संकल्प विकल्प करता है, बुद्धि ब्रह्मारूप दैवत की सहायता से निश्चय करती है, चित्त नारायण रूप दैवत के सहारे चिंतवन करता है और अहंकार रुद्र रूप दैवत की मदद से अहंभाव करता है। जैसे ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां ज्ञान और क्रिया के बाहर के साधन (करण) हैं वैसे ही अन्तःकरण भीतर के सूक्ष्म ज्ञान के साधन (करण) हैं। ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां बाहर कार्य करने के औजार हैं और अन्तःकरण भीतर कार्य करने के औजार हैं। ये भी अध्यात्म, अधिदेव और अधिभूत त्रिपुटी युक्त ही कार्य कर सकते हैं। मन सूक्ष्म होने से देखने में नहीं आता, परन्तु संकल्प विकल्प रूप कार्य करने से उसका कर्ता मन है ऐसा जाना जाता है। इसी प्रकार निश्चय करने वाली बुद्धि, चिंतवन करने वाला चित्त और अहंभाव करने वाला अहंकार जाना जाता है।

सूक्ष्म शरीर का पंचभूतात्मक कोष्टक ।

भूत	अंतःकरण	प्राण	ज्ञानेन्द्रिय	कर्मेंद्रिय	विषय
आकाश	+	व्यान	श्रोत्र	वाचा	शब्द
वायु	मन	समान	त्वचा	हाथ	स्पर्श
तेज	बुद्धि	उदान	चक्षु	पाद	रूप
जल	चित्त	प्राण	जिह्वा	शिश्न	रस
पृथ्वी	अहंकार	अपान	घ्राण	गुदा	गन्ध

सूक्ष्म शरीर का कौन कौन सा भाग किस किस तत्त्व के अंश वाला है इसका विवेचन इस प्रकार है:—सूक्ष्म शरीर का कंठ स्थान, मध्यमा वाचा, सूक्ष्म भोग, ज्ञान शक्ति, गुण रज, उकार मात्रा और तैजस जीव अभिमानी है। स्वप्नावस्था में जब स्थूल शरीर का भान नहीं होता तब जो रहता है वह सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर समझने के लिये स्वप्न पृथक् अवस्था है। स्थूल शरीर के कंठ देश में जो हिता नाडी है उसमें स्वप्न देखने में आता है। स्वप्न का सब दृश्य सूक्ष्म शरीर में होता है-दीखता है। वाचा जो कंठ में रहती है मध्यमा कही जाती है। वह न तो पूर्ण बाहर ही होती है न पूर्ण भीतर ही होती है इसलिये मध्यमा कहलाती है। स्वप्न में जो बोलना होता है वह इस वाचा से ही होता है। सूक्ष्म शरीर में सुख दुःखादिक के जितने भोग होते हैं वे स्थूल शरीर के भोगों की अपेक्षा से सूक्ष्म हैं इसलिये सूक्ष्म भोग कहलाते हैं। ज्ञान शक्ति सूक्ष्म शरीर में होती है, स्थूल शरीर में जो-

ज्ञान शक्ति मालूम होती है वह इसी शरीर में से आती है इस-लिये उसी की है, गुण रज है क्योंकि स्वप्न का जितना दृश्य है वह सब चंचलता में होता है । ॐकार जैसे ब्रह्मांडमय है इसी प्रकार शरीरमय है इसलिये स्थूल शरीर की मात्रा अकार है और सूक्ष्म शरीर की उकार है। सूक्ष्म शरीर में अभिमान करने वाला जो जीव है उसे तैजस कहते हैं क्योंकि वह तेज में ही अनेक प्रकार के प्रपंच के दृश्य को जानता है और उसका अभिमान करता है।

सूक्ष्म शरीर माया के सत्, रज और तमोगुण से सूक्ष्म युक्त है। कौन कौन गुणों से कौन कौन भोग युक्त हैं इसके जानने का यह प्रकार है:-अन्तःकरण और पांच ज्ञानेन्द्रियां सतोगुण की हैं, इसी से अन्तःकरण सतोगुण का कार्य कह-लाता है। पांच प्राण और कर्मेन्द्रियां रजोगुण से बनी हैं और पांचों विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध तमोगुण के हैं।

सूक्ष्म शरीर का त्रिगुणात्मक कोष्टक।

	भूत	आकाश	वायु	तेज	जल	पृथ्वी
सत	अन्तःकरण	—	मन	बुद्धि	चित्त	अहंकार
	ज्ञानेन्द्रिय	श्रोत्र	त्वचा	चक्षु	जिह्वा	घ्राण
रज	प्राण	व्यान	समान	उदान	प्राण	अपान
	कर्मेन्द्रिय	वाचा	पाणि	पाद	शिश्न	गुदा
तम	विषय	शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गंध

दूसरी प्रकार से सूक्ष्म शरीर सत्तरह तत्त्वों का कहा जाता है, उनमें उपरोक्त सब विस्तार का समावेश हो जाता है। सत्तरह तत्त्व इस प्रकार हैं:—पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण, मन और बुद्धि। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म भोग वाला है, अपंचीकृत पंच भूतों का बना हुआ और वासनामय है; चित्त और अहंकार का समावेश बुद्धि में हो जाता है, इस प्रकार सूक्ष्म शरीर कारण शरीर से सत्ता पाकर स्थूल शरीर को सत्ता देकर चेष्टा वाला बनाता है।

जिस प्रकार स्थूल शरीर तू नहीं है, ऐसे ही सूक्ष्म शरीर भी तू नहीं है। ऊपर सूक्ष्म शरीर का जो वर्णन है वह सब माया में ही है तू माया से परे है। सूक्ष्म शरीर अनेक विकारों वाला है तू विकार रहित है। सूक्ष्म शरीर स्थूल दृष्टि का विषय नहीं है तो भी बुद्धि से जाना जा सकता है; तू बुद्धि से भी परे है इसलिये सूक्ष्म शरीर तू नहीं है। सूक्ष्म शरीर मायिक पदार्थों की वासना का है, तू वासना रहित है।

शिष्यः—महाराज ! मैं वासनारहित किस प्रकार हूँ ? मुझमें तो अनेक वासनायें भरी हुई हैं। संतः—नहीं, तुझमें वासना नहीं है! वासना अज्ञानकी है इसलिये अज्ञानरूप सूक्ष्म शरीरमें ही वह ठहर सकती है, तुझज्ञानस्वरूप में नहीं ठहर सकती। अज्ञान के साथ एकता का भाव होने से अज्ञान में ठहरी हुई वासनायें तुझे अपने में मालूम होती हैं। जैसे अंधेरे आदि कारण से जब रस्सी में सर्प दिखाई देता है तब मुख, नेत्र आदिक रस्सी में न होते हुए भी

जिस प्रकार दीखने लगते हैं वैसे ही वासनायें तुझ ज्ञान स्वरूप में होते हुए भी मालूम होने लगी हैं। तू असंग है, भला, असंग को वासना का संग किस प्रकार हो सकता है। सूक्ष्म शरीर को स्वतंत्र समझने की स्वप्नावस्था है। जब स्वप्नावस्था होती है तब सर्व का साक्षी बुद्धि उपाधि वाला आत्मा आपही प्रकाशित होता है और वहां बुद्धि जो जो कार्य करती है उनके दोषों से वह (आत्मा) दूषित नहीं होता। यदि किसी को ऐसा स्वप्न आवे कि अमुक मनुष्य से मैं पांच सौ रुपये लेकर दस्तावेज़ लिख आया और रुपये खर्च हो गये। जब वह मनुष्य जागता है तब अपने को ऋणी (करज़दार) नहीं मानता। इसी प्रकार असंग आत्मा जो वस्तुतः वासना वाला नहीं है, अज्ञान से अपने को वासना वाला मानता है। जब वह आत्म स्वरूप में जागता है तब जानता है कि उसमें वासनाओं का लेश भी नहीं था, तू असंग है इसलिये सूक्ष्म शरीर तू नहीं है।

सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के कार्य करने का औजार है। जैसे बढ़ई लकड़ीको आरीसे चीर, बसूलेसे छील और बरमेसे छेदकर चौखट बनाता है और हथौड़ी से कीलें ठोंक कर उन्हें दृढ़ करता है इसी प्रकार जीवात्मा बढ़ई है, मन आरी है, बुद्धि बसूला है, चित्त बरमा है और कीलादिक से दृढ़ करने वाला अहंकार है। जैसे बढ़ई अपने सब औजारों से पृथक् है, औजार नहीं हो सकता इसी प्रकार आत्मा सूक्ष्म शरीर नहीं है। औजार चलाने वाला औजार किस प्रकार हो सकता है। औजार के साथ एक भाव करने से औजार ही हो ऐसा अज्ञान से मालूम होता है।

जो यह कहा जाय कि इन्द्रियां हमारी होने से जब वे जाती रहती हैं तब मैं ऐसा क्यों मानता हूँ कि मैं अंधा हूँ, मैं पंगु हूँ, मैं बहरा हूँ इत्यादि तो उसका उत्तर सुनः--यह तेरा अज्ञान है। नेत्रों आदिक के अंधत्व, मंदत्व आदि धर्म तेरे धर्म नहीं हैं, वे सब इन्द्रियों के धर्म हैं। वे तेरे धर्म न होने से तू अंधा, बहरा आदि कभी नहीं होता। श्वासोश्वासादिक जितनी क्रियाऐं चैतन्य के समान दिखाई देती हैं, वें प्राण के धर्म हैं तेरे नहीं हैं, क्योंकि तू असंग है।

यदि तू ऐसा कहे कि उन्हें तो आप जड़ बताते हो और जड़ अपने आप क्रिया नहीं कर सकता तो वे किस प्रकार चेष्टा करते हैं, तो सुनः–जड़ चैतन्य की सत्ता पाकर चैतन्य के समान कार्य करते दीखते हैं। उनमें तेरी सत्ता अवश्य है परन्तु वह सत्ता सामान्य है, अनेक प्रकार की न्यूंनाधिक चेष्टा करने वाला तू नहीं है। जो अनेक प्रकार की चेष्टा करता है वह अज्ञान का बना हुआ जीव भाव है, वह भाव तू नहीं है। 'सूक्ष्म शरीर मैं हूँ' ऐसा तेरा भाव बन्धन है। यह भाव मिथ्या होते हुए भी सत्य दीखता है। उसकी सत्यता इतनी दृढ़ीभूत होगई है कि उसके मिथ्या होने का स्वप्न में भी विचार नहीं होता। यह सब अज्ञान का प्रभाव है। विचार करके देखने से अज्ञान का सूक्ष्म शरीर और कर्ता भोक्ता का भाव तुझमें नहीं है।

दूसरी प्रकार यों समझः–एक राजा है, उसके राज्य में एक महान् न्यायालय है, एक मनुष्य ने एक अर्जी लाकर चपरासी

को दी, चपरासी ने क्लर्क को, क्लर्क ने सरिश्तेदार को और सरिश्तेदार ने हाकिम को हाकिम ने 'हां' अथवा 'नहीं' अपनी इच्छानुसार हुकुम लिख दिया, और हस्ताक्षर कर दिये। राजा आत्मा है, अन्तःकरण रूप शरीर न्यायालय है, विचार अर्जी देने वाला है, मन चपरासी है जो विचार रूप अर्जी को बुद्धि रूप क्लर्क के पास ले जाता है, बुद्धि, आगे पहुँचाने योग्य है या नहीं ऐसा निश्चय कर के, यदि आगे ले जाने योग्य होता है तब चित्त रूपी सरिश्तेदार के पास पहुँचा देती है, चित्त चिंतवन करके यदि योग्य समझता है तो अहंकार रूपी हाकिम के पास ले जाता है जो 'हां' अथवा 'ना' हुकुम करके हस्ताक्षर कर देता है। न्यायालय राजा से भिन्न है, उसके अधिकारी नौकर राजा की सत्ता से काम करते हैं परन्तु अधिकारी और न्यायालय राजा नहीं हैं, इसी प्रकार अन्तःकरण काम करते हुए भी आत्मा नहीं है। सोच 'तू जो राजा' है तो न्यायालय रूप सूक्ष्म देह किस प्रकार हो सकता है! वह तुझ से पृथक् है।

अलखपुर का एक राजा अपना राज्य भली प्रकार किया करता था। एक साधु से उसकी मित्रता थी। एक बार साधु बहुत दिनों तक राजा के पास रहा, अन्त में जब वह जाने लगा तब उसने राजा को एक अपूर्व वस्तु देने का निश्चय किया और उसे एकांत में रात को अपने पास बुलाया। राजा, मशाल हाथ में लिये हुए एक हज्जाम को साथ लेकर साधु के पास पहुँचा। साधु ने हज्जाम को बाहर निकाल कर राजा को परकाया में

प्रवेश करने की विद्या सिखाई जिसमें तुरंत के मरे हुए शरीर में अपने शरीर से निकल कर प्रवेश करना पड़ता था, पीछे यदि चाहे तो फिर पूर्व शरीर में प्रवेश किया जा सकता था तब वह शरीर निर्जीव हो जाता था। यदि मृतक शरीर में और कोई आकर प्रवेश कर जाय तो जब तक वह उसमें से न निकलता तब तक उसमें शरीर वाला प्रवेश नहीं कर सकता था। जब साधुने राजा को यह विद्या सिखाई तब मशाल लाने वाला हज्जाम दीवार से लग कर छुप कर सब बातें सुनता रहा, इस प्रकार राजा की सीखी हुई विद्या वह भी सीख गया। राजा अपने स्थान पर लौट आया और साधु चल दिया।

रानी के पास एक श्वेत कौवा था, जिसको वह बहुत ही प्यार करती थी, रत्न जटित सुवर्ण के पिंजरे में बन्द रखती थी। थोड़े दिन पीछे आयु पूरी होने पर कौवा मर गया, रानी बहुत दुखी हुई। राजा ने बहुत समझाया परंतु रानी न मानी। तब राजा ने कहा "हे प्रिये! तू क्यों शोक करती है? एक पक्षी के लिये इतना शोक करना योग्य नहीं है! ऐसे बहुत से कौवे मैं तुझे मंगवा दूंगा!" रानी ने कहा "स्वामिन्! मुझे और कौवा नहीं चाहिये! मेरा कौवा ही सजीवन होना चाहिये! एक दिन आपने कहा था मुझे सजीवन विद्या याद है! अब इस कौवे को सजीवन कर दीजिये।" राजा ने कहा "प्रिये! हठ क्यों करतीहै! मैं इसे सजीवन कर सकता हूँ परंतु जब मैं अपने शरीर में से निकल कर उसमें प्रवेश करूंगा तब वह सजीवन होगा!" रानी

को अपने प्यारे कौवे को एक बार सजीवन हुआ देखने की वहुत ही अभिलाषा थी, राजा की बात सुनकर 'राजा अपने शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में किस प्रकार जाता है ?" यह देखने की भी इच्छा हुई। उसने राजा से कहा "प्राण वल्लभ! आप थोड़ी देर के लिये कौवे के शरीर में प्रवेश करके फिर निकल आइये, मैं इतने ही में संतुष्ट हो जाऊंगी !" राजा ने जी में कहा "जब से साधु से विद्या सीखी है तब से कभी उसकी परीक्षा करने का अवसर नहीं मिला, परीक्षा की परीक्षा हो जायगी, रानी भी प्रसन्न हो जायगी, एक पंथ दो काज !" यह विचार कर राजा अपने शरीर में से निकल कर कौवे के शरीर में प्रवेश कर गया। राजा का शरीर मृतक हो गया और कौवे का शरीर सजीवन हो गया। हज्जाम वहां उपस्थित था, ये सब कृत्य देखता रहा। राजा को कौवे के शरीर में प्रवेश किया हुआ देख कर विचारने लगा "राजा का शरीर मृतक पड़ा हुआ है, यदि मैं उस में प्रवेश कर जाऊं तो राजा हो जाऊं। राजा का कुछ भी वश न चलेगा। अवसर भी अच्छा मिलगया है, हाथ से खोना नहीं चाहिये !" ऐसा विचार कर हज्जाम राजा के मृतक शरीर में प्रवेश कर गया और राजा का शरीर सजीवन हो गया। कौवे रूप राजा ने जब यह कौतुक देखा तो वहुत ही घबराया और जी में कहने लगा "अब यह मुझे अवश्य मार डालेगा।" यह सोच कर कौवा उड कर भाग निकला। राजा रूप हज्जाम अपने मृतक शरीर को जलाने के लिये आज्ञा देकर राज काज करने लगा। इस प्रकार का वृत्तांत रानी और राजा के किसी नौकर को मालूम।

हुआ, राजा कौवा होकर जंगल २ घूमता कष्ट पाने लगा और हज्जाम राज्य करने लगा।

शिष्यः-भगवन्! इस राजाको उसका राज्य फिर भी कभी मिलेगा या नहीं ? संतः—हां, मिलेगा परन्तु बहुत कष्ट भोगने के पीछे राज्य की प्राप्ति होना संभव है। शिष्यः-भगवन्! कृपा कर समझाइये उसका राज्य फिर कैसे मिलेगा। संतः-सुन, कौवा रूप राजा अनंत काल तक भटकता रहा, एक समय वह हिमालय पर्वत पर विचर रहा था, वहां एक स्थान पर एक सिद्ध योगी का निवास था। उस ने कौवे को देख कर दिव्य दृष्टि से जान लिया कि यह वास्तविक कौवा नहीं है और उसे अपने सतोगुण के प्रभाव-आकर्षण से अपने पास बुलाया। कौवा अपना राजा होना, परकाया में प्रवेश करने की विद्या सीखना, कौवे के मृतक शरीर में प्रवेश करना, और हज्जाम का राजा के शरीर में प्रवेश करना ये सब बातें बहुत दिन होने से भूल गया था, वह अपने को कौवा ही मानने लगा था। सिद्ध योगी ने कौवे को बुला कर मनुष्य की भाषा बोलने की शक्ति दी और दोनों में यह बात चीत हुईः--योगीः--तू कौन है ? कौवाः-महाराज! मैं कौवा हूँ! कौवेमेरे कुटम्बी हैं, कौवी मेरी स्त्री है, उसके बच्चे मेरे समान कौवे ही हैं। संतः-तू कौवा नहीं है, तू राजा है। कौवाः--मैं राजा किस प्रकार हूँ? अनेक प्रकार के अपवित्र पदार्थ भोजन करता हूँ, भला फिर मैं राजा किस प्रकार हो सकता हूँ ? संतः--मैं सच कहता हूं तू कौवा नहीं है। तुझको कौवे के शरीर के साथ एक भाव हो गया है

इसलिये कौवे का शरीर होने से तू अपने को कौवा मानता है, वास्तव में तू राजा है। कौवा:-(हंस कर) महाराज, मैं राजा हूं तो मुझे याद क्यों नहीं आती ? संत:--विशेष समय हो जाने से तुझे इसका लक्ष नहीं रहा है, इसलिये तुझे याद नहीं आती, यदि तू कौवे का भाव हटा कर और एकाग्र चित्त करके देखे तो तुझे मालूम हो जायगा कि तू कौवा नहीं है परन्तु राजा है। कौवा:--महाराज, कौवे का भाव किस प्रकार हटे और चित्त किस प्रकार एकाग्र हो ? मैं ऐसा नहीं कर सकता, कृपा करके आप बताइये। संत:--कौवे का भाव हट जायगा और चित्त भी एकाग्र हो जायगा, जैसे मैं कहूँ वैसे कर, अभ्यास और वैराग्य दोनों का ग्रहण कर, कौवा और कौवे की दशा--सृष्टि सब असत्य है, उस पर तिरस्कार करना वैराग्य है और ऐसा बारम्बार करने पर भी जब जब चित्त प्रपंच की सत्यता ग्रहण करे तब तब उसको हटाना अभ्यास है। इन दोनों को ग्रहण कर। कौवे ने इस प्रकार करने को स्वीकार किया और वह संत के पास रहने लगा। इस प्रकार कुछ दिनों तक अभ्यास और वैराग्य करने से उसका चित्त एकाग्र हो गया और संत के उपदेशके अनुसार समाधि करने से उसको मालूम हो गया कि मैं कौवा नहीं हूं किन्तु राजा हूँ।

एक दिन उसने संत से कहा "महाराज, मुझे अब पूर्व की स्मृति आती है, मैं राजा हूँ, रानी के प्रेम से उसे प्रसन्न करने के लिये मैं कौवे के शरीर में घुस गया था और उसी समय एक

लुच्चा हज्जाम मेरे मृतक शरीर में घुस गया। अब मुझे अपना पूर्व वृत्तांत का स्मरण हो रहा है, मैं आप की आज्ञानुसार वर्तने को तैयार हूँ आप के ऊपर मेरी पूर्ण श्रद्धा है, आप तरण तारण हैं।" संत कौवे को लेकर राजा के राज्य में गया तो वहां क्या देखा कि हज्जाम मौज से राज्य कर रहा है। संत ने कौवे को अपने कपड़ों में छुपा कर एक वृक्ष के नीचे आसन लगाया, हज़ारों मनुष्य दर्शन करने आने लगे। एक वार रानी संत के दर्शनों को आई तब संत ने उससे कहा "बेटी! तू रानी है परन्तु तेरा सौन्दर्य रानी का सा नहीं है, तू तीन दिन का व्रत कर उसके प्रभाव से तू इन्द्र की अप्सरा समान सौन्दर्य वाली और बुद्धि वाली हो जायगी।" रानी ने यह बात हज्जाम राजा से कही, वह भी संत के पास आया। संत ने उससे कहा "हे राजा! कल तेरी रानी दर्शन करने आई थी, वह सामान्य स्त्री नहीं है, वह अलौकिक सुन्दरी है, पूर्व में उससे कुछ अपराध हो गया है इससे वह स्त्री हुई है; उसके निमित्त मैंने तीन दिन का व्रत बताया है, व्रत पूर्ण होने पर वह दोष निवृत्त हो कर परम सुन्दरी हो जायगी।" हज्जाम ने कहा, "महाराज! आप कृपा-निधान हैं, कहीं ऐसा न होय कि वह स्वर्ग में चली जाय। जो ऐसा हुआ तो मैं बहुत दुखी हूँगा।" संत ने कहा "इस बात की शंका मत कर, मैं प्रतिज्ञा कर कहता हूँ कि वह स्वर्ग में न जायगी, रानी को व्रत के अन्त में बलि देने के लिये एक बकरे की आवश्यकता है, मैं उसे अभिमंत्रित करूंगा, तू सत्तरह विद्वान् पंडित एकत्र करके भेज दे, मैं एक युक्ति बता दूंगा।"

हज्जाम राजा ने संत का कहा हुआ सब सामान एकत्र किया; और दूसरे दिन यज्ञ कुंड में बहुत सी आहुतियां दी गई। फिर किसी युक्ति से बकरा मार दिया गया। राजा और रानी आश्चर्य करने लगे। संत ने कहा "मंत्रित बकरे का मरजाना अप-शकुन है, व्रत पूर्ण न हुआ, यदि यह बकरा सजीवन न होगा तो राजा रानी पर बड़ी आपत्ति आवेगी। अब दूसरे बकरे का संस्कार नहीं कर सकते। बलि भंग होने से यज्ञ भंग हो जायगा और यज्ञ भंग होने से यजमान का भंग होगा। यदि थोड़ी देर के लिये भी बकरा सजीवन हो जाय तो यज्ञ सफल हो जाय।" हज्जाम राजा सोचने लगा "थोड़ी देर का काम है। जब वह बलि के निमित्त से छोड़ दिया जायगा, तभी मैं उसके शरीर में से निकल कर अपने शरीर में आ जाऊंगा।" यह विचार कर उसने संत से कहा "महाराज! थोड़ी देर के लिये मैं बकरे को जिला सकता हूँ।" संत ने कहा "थोड़ी देर का तो काम ही है, यज्ञ सफल हो जाना चाहिये।" हज्जाम ने अपनी पुर्यष्टका राजा के शरीर में से निकाल कर बकरे के शरीर में प्रवेश कर दी और कौवा रूप राजा जो संत के कपड़ों में छुपा हुआ था, कौवे के शरीर में से निकल कर राजा के शरीर में प्रवेश कर गया। यज्ञ की शेष क्रिया की गई, बकरे के कान काट कर राजा ने बांध कर कैद कर लिया। इस प्रकार राजा ने अपना पूर्व शरीर प्राप्त किया।

सिद्धान्तः—जहां लक्ष पहुँचाना अशक्य है, उसे अलखपुर कहते हैं, वहां का राजा आत्मा है, हज्जाम अज्ञान है, ज्ञान के

प्रथम भाव की बुद्धि रानी है, सफेद कौवा रानी का प्रेम पात्र बुद्धि में पड़ा हुआ आभास, चिदाभास है। राजा जब तक अपने स्वभाव में स्थित रहा तब तक ही राजा था जब बुद्धि रूप रानी के प्रेम में आ गया तब अपना स्वभाव भूल कर बुद्धि के अनुसार वर्तने लगा। बुद्धि के आत्माकार होने से एक समय चिदाभास कौवा दृष्टि न पड़ा-मर गया तब बुद्धि रूप रानी ने उसे सजीव करने की हठ की, राजा अपने में से निकल-अपने स्वरूप से हट कर चिदाभास रूप कौवे में घुसा-कौवे के अभिमान वाला हुआ; तभी अज्ञान रूप हज्जाम राजा के भाव में स्थित हो गया। जब तक अज्ञान न हटा तब तक कौवा रूप चिदाभास-जीव भाव न मिटा और तब तक अनेक प्रकार के कष्ट भोगता रहा। कौवे की देह में अध्यास दृढ़ होने से राजा अपने स्वरूप को भूल गया इसलिये जब संत ने उसे राजा बताया तब आश्चर्य करने लगा। ऐसी ही तेरी दशा है और जो जो अज्ञान में फंसे हुए हैं उनकी भी वही दशा है। अज्ञानी चिदाभास का यह ही स्वभाव है कि जिसमें विशेष समय तक रहता है वह ही उसको पसंद पड़ जाता है। सूक्ष्म शरीर में आत्मा का अभिमान होना-सूक्ष्म शरीर मैं हूं ऐसा मानना, यह ही कौवा होना है इसलिये 'सूक्ष्म शरीर मैं नहीं हूँ' ऐसा तू निश्चय कर। आत्मा का जो स्वरूप शास्त्रकारों ने वर्णन किया है और संतों से जैसा सुना गया है उससे सूक्ष्म शरीर के लक्षण विरुद्ध हैं।

जब राजा बहुत दिनों तक कौवे के शरीर में भटकता रहा तब अनेक शुभ कर्मों के फल स्वरूप हिमालय रूप विवेक देश में उसका विचरना हुआ, वहां संत-सद्गुरु की प्राप्ति हुई, उसके वचन पर विश्वास करने से कौवे रूप राजा ने अपने को राजा समझा। समझना अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान था, इसलिये मोक्ष-स्वरूप प्राप्ति नहीं हुई। तब सद्गुरु की सहायता से युक्ति पूर्वक अज्ञान रूप हज्जाम को स्थान से हटा दिया, उसके हटने पर राजा को स्वस्वरूप की प्राप्ति हुई। अज्ञान रूप हज्जाम बुद्धि रूप रानी पर मोहित था, जब संत ने बुद्धि से वैराग्य रूप यज्ञ कराया और अज्ञान उसमें संयुक्त हुआ तब प्रपंच रूप बकरे का नाश देख कर अज्ञान रूप हज्जाम प्रपंच रूप बकरे में घुसा, और राजा अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ। इस प्रकार जो जिसका था उसी को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार तू भी, विचार, विवेक और वैराग्य के सहारे से अज्ञान रूप बलिष्ठ शत्रु को मार दे।

जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर तू नहीं है, इसी प्रकार वह तेरा भी नहीं है। तू आत्म तत्त्व है वह भौतिक है, दोनों एक दूसरे से विरुद्ध हैं। जैसे अंधेरे और उजाले का मेल नहीं हो सकता इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर और आत्मा का मेल नहीं हो सकता। जब मेल ही नहीं हो सकता तब तेरा कैसे हो सकता है। जब आत्म तत्त्व का भाव होता है तब सूक्ष्म शरीर नहीं रहता और जब 'सूक्ष्म शरीर मैं हूं' ऐसा मानता है तब आत्मा का भान नहीं रहता इसलिये विरुद्ध होने से सूक्ष्म शरीर तेरा नहीं है।

जब कोई वस्तु अपनी बताई जाती है तब बताने वाला उसी स्वरूप में होता है जिसमें वस्तु होती है; विरुद्ध स्वरूप-सत्ता की वस्तु अपनी नहीं हो सकती जैसे स्वप्न की अवस्था और है, जाग्रत की और है। जैसे स्वप्न के धन से जाग्रत पुरुष अपने को धनवान् नहीं समझता इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर आत्मा नहीं हो सकता। तू आत्मा है इस लक्ष्य से सूक्ष्म शरीर तेरा नहीं है। अब सिद्ध हुआ कि तू सूक्ष्म शरीर नहीं है न सूक्ष्म शरीर तेरा है।
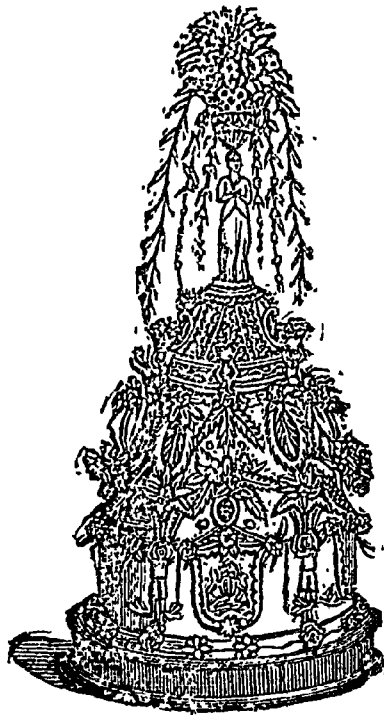
प्राणमय कोश।

प्राणमय कोश प्राणों का समुदाय रूप है। वह प्रथम के आनन्दमय, विज्ञानमय और मनोमय कोश से पूर्ण होकर पिछले अन्नमय कोश को पुष्ट करता है। अन्नमय कोश से गिनें तो प्राणमय कोश दूसरा है और आनन्दमय से गिनें तो चौथा है। सूक्ष्म शरीर के तीन कोशों में से यह अन्तिम कोश है। सूक्ष्म शरीर के तीनों कोश क्रम क्रम से एक दूसरे से स्थूल हैं। विज्ञान-मय से मनोमय और मनोमय से प्राणमय अधिक स्थूल है। प्राणमय कोश का मनोमय कारण है और मनोमय का विज्ञानमय कारण है। मनोमय और विज्ञानमय से प्राणमय में स्थूलता है और प्राणमय अन्नमय का कारण है। अन्नमय कोश की समान प्राणमय कोश स्थूलता से सम्बन्ध वाला होने से जड़ है। वेदान्त प्रक्रिया में प्राणमय कोश पांच प्राण और पांच कर्मेन्द्रियों से बना हुआ दिखलाया है। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पांच प्राण हैं। वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ ये पांच कर्मे-न्द्रियां हैं। कर्मेन्द्रियां कर्म करने वाली हैं और प्राण उन्हें कर्म करने की शक्ति देने वाले हैं। इसलिये कर्मेन्द्रियां प्राणमय कोश में हैं। जैसे प्राण जड़ हैं ऐसे ही कर्मेन्द्रियां भी जड़ हैं। प्राणमय कोश अन्नमय कोश में व्यापक है और स्थूल शरीर का जीवन उसीके आधार पर है। प्राण की शरीर में दिन रात में इक्कीस हजार छः सौ श्वासोश्वास रूप क्रिया होती है। जब तक यह क्रिया होती रहती है तब तक संसार में प्राणी जीवित कहलाता

है। इन्द्रियादिक सब समान वायु से चेष्टा करती हैं अर्थात् प्राण वायु ही समान वायु के रूप को प्राप्त होकर क्रिया करता है। समान वायु जो उदर में जठर के आश्रय में रहता है, वह ही जब वस्ति और गुदा में रह कर मल मूत्र का वहन करता है तब उसे अपान वायु कहते हैं। जो वायु गमनादि कर्म के अनुकूल चेष्टा रूप प्रयत्न वाला और बोझ को उठाने की सामर्थ्य वाला है वह उदान वायु है उसका स्थान विशेष कंठ है, वह स्वप्न और हिचकी रूप क्रिया करने वाला है। सब संधियों में रहने वाला व्यान वायु है। वह अग्नि और धातुओं में फैला रहता है। उसको समान वायु प्रज्वलित करता है जिससे वह रस, धातु और वात, पित्त, कफ आदि दोषों का पाचन करता है। अपान वायु नाभि के नीचे और प्राण वायु ऊपर होता है, दोनों के मध्य में समान वायु है इससे जठराग्नि प्रदीप्त होता है जिससे अन्न रसादिक परिणाम को प्राप्त हो कर अंत में ओज संज्ञा प्राप्त करके जीवन रूप होता है। मुख से लेकर पांचों इन्द्रियों तक एक बड़ी आंत (नल) है जिसके ऊपर के भाग में मुख और नीचे के भाग में गुदा है, उसमें से अनेक नाड़ियां निकल कर प्राणी के सब शरीर में फैली हुई हैं। उन नाड़ियों के मार्ग से प्राण वायु शरीर में प्रवेश करता है और उसके साथ गमन करने वाला तेज रूप जठराग्नि प्राणियों के खाये हुए अन्न को पाचन करता है उसका भी सब देह में प्रवेश होता है। जैसे वायु अग्नि का वहन करता है ऐसे ही अग्नि वायु का वहन करता है। प्राण वायु अग्नि को प्रदीप्त करता है और अंग की गति इसी से होती

है। नाभि के नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय है, और उसके मध्य में प्राण वायु रहता है। पांचों प्राण हृदय में जा कर वहां से शरीर के ऊपर, नीचे और सब तरफ़ घूमते हैं। प्राणों के साथ नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय मिल कर दश वायु नाड़ियों के मार्ग से अन्न से उत्पन्न हुए रस को देह में ले जाते हैं। नाग से डकार आती है, कूर्म से आंखों का खुलना बन्द होना होता है, कृकल से छींक आती है, देवदत्त जंभाई लाता है, और धनंजय सब शरीर में रह कर शरीर को पुष्ट करता है और मृत्यु के पीछे मतक शरीर को फुला देता है। इन पांचों का समावेश पांचों प्राणों में होता है इसलिये प्राणमय कोश से पृथक् ये नहीं गिने जाते। प्राणमय कोश वायु के विकार वाला और वायु के समान भीतर बाहर जाने आने वाला है। वह शुभ अशुभ को नहीं जानता, अपने पराये को भी नहीं जानता, परतंत्र और जड़ है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियां भी परतंत्र और जड़ हैं।

उपरोक्त प्राणमय कोश आत्मा नहीं है क्योंकि आत्मा के और उसके लक्षण नहीं मिलते। प्राणमय कोश क्रिया वाला है और आत्मा अक्रिय है। प्राणमय कोश दृश्य है, आत्मा द्रष्टा है प्राणमय कोश विकारी है, आत्मा अविकारी है; प्राणमय कोश परिच्छिन्न है आत्मा व्यापक है; प्राण अबोध रूप है, आत्मा बोध रूप है; प्राणमय कोश आश्रय वाला है, आत्मा किसी का आश्रय वाला नहीं है, प्राणमय कोश सूक्ष्म शरीर का अंग है.

आत्मा किसी का अंग नहीं है; प्राण रजोगुण वाला है, आत्मा गुणातीत है; प्राण असत् जड़ है, आत्मा सच्चिदानंद रूप है। ऐसे विरुद्ध धर्मों वाला प्राणमय कोश आत्मा कैसे हो सकता है? तू तो आत्म स्वरूप है इसलिये प्राणमय कोश तू नहीं है।

शिष्यः—स्थूलता वाला अन्नमय कोश मैं नहीं हूं यह तो समझ में आगया किंतु प्राणमय कोश तो मैं अवश्य हूँ क्योंकि प्राणों से ही जीवन और मरण है, प्राण न हो तो मैं नहीं रहता, मरने के समय कुटुम्बी इस प्रकार ही कहते हैं 'अब प्राण नहीं है, जीव चला गया'। जो ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां शरीर में न हों-अथवा टूट जांय तो ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान की और कर्मेन्द्रियां कर्म की क्रिया नहीं कर सकतीं, यह ठीक है, परंतु जब तक प्राण न जांय तब तक मृतक नहीं कहलाता। प्राणों के चले जाने से उत्तम शरीर प्रेत हो जाता है और भयंकर दीखने लगता है। सुषुप्ति में सर्व इन्द्रियों का अभाव होता है तो भी प्राणों के होने से शरीर मृतक नहीं कहलाता। प्राणों के संबंध से ही मेरा मरण जीवन है इसलिये प्राणमय कोश मैं हूं।

संतः—मरण और जीवन स्थूल शरीर का होता है, तेरा नहीं होता। स्थूल शरीर और प्राणों का संबंध होने से जीवन मरण प्राणों में दीखता है। प्रथम तो यह विचार कर कि जीवन मरण है क्या? दृढ़ीभूत वासनाओं का वेग जो फल देने को प्रवृत्त हो रहा है, उस वेग रूपी प्रारब्ध का अंत मरण है और नवीन वासनाओं का प्रारब्ध रूप से प्रगट होना जन्म है। उन्हीं

वासनाओं का वेग कर्मानुसार स्थूल शरीर के संबंध वाला होता है। कर्मों को क्रिया में लाने वाली शक्ति स्थूल प्राण है, वह तू (आत्मा) नहीं है। स्थूल प्राण का बीज रूप सूक्ष्म प्राण जो सूक्ष्म शरीर में रहता है, प्राणमय कोश रूप है वह भी तू नहीं है क्योंकि प्राण उत्पत्ति और नाश वाला है, आत्मा अविनाशी है। "आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है" ऐसी श्रुति है। जिसको तू प्राण जानता है वह स्थूल प्राण है। जब तू सूक्ष्म प्राण ही नहीं है तब तू स्थूल प्राण कैसे हो सकता है? तू कहता है 'प्राण न हो तो मैं नहीं रहता' मैं तुझसे पूछता हूँ कि प्राण न होने से रहने वाला तू है कौन? क्या स्थूल शरीर तू है? प्राण के न रहने से शरीर में चैतन्यता नहीं दीखती, तू वह चैतन्यता नहीं है, तू तो नित्य रहने वाला आत्मा है, शरीर में रहने वाला स्थूल प्राण शरीर के आरम्भ में प्राप्त हुआ है इसके प्रथम क्या तू न था? था ही। जब तू उसके प्रथम का है तो उसके न रहने पर भी तू तो रहेगा ही। जब कोई मनुष्य अत्यंत रोगग्रस्त होता है, बहुत दुखी हो जाता है और बहुत दुखी होने के कारण जीवित रहना भी नहीं चाहता तब ऐसा कहता है 'मेरा प्राण चला जाय तो अच्छा है, उसके जाने से ही मेरे दुःख की निवृत्ति होगी' अपना नाश कोई भी नहीं चाहता। प्राण निकल जाने के पीछे दुःख से रहित होकर रहने वाला कोई और है, उसको दुःख न हो इसलिये वह प्राण छोड़ना चाहता है।

कुटुम्बी स्थूल शरीर को ही सृष्टि मानते हैं इसलिये स्थूल शरीर में प्राण न रहने को ही जीव का न रहना कहते हैं। ये

लोग भी प्राण को जीवात्मा नहीं मानते, जीव का मरण वे स्वीकार नहीं करते इसलिये ही शास्त्रानुसार उत्तर किया करते हैं। इन्द्रियां, अंतःकरण और पंच भूत का पंची करण आदि सब स्थूल शरीर का अंग, उपांग और विस्तार के सब मणकों का एक में संग्रथित करने वाला धागा रूप प्राण है। जब तक यह प्राण शरीर में रहता है तब तक शरीर चैतन्यता वाला दीखता है। जैसे एकाध मणका टूट जाने पर भी जब तक धागा नहीं टूटता तब तक माला कही जाती है इसी प्रकार एकाध इन्द्रिय के खंडित होने पर भी प्राणी जीवित कहलाता है। स्थूल शरीर में रहने वाले प्राण की इन्द्रियों के गोलकों से विशेषता अवश्य है परंतु इससे प्राण आत्मा नहीं हो सकता। जैसे माला में रहने वाला धागा सबको एकत्र रखने वाला होने पर भी परिच्छिन्न है इसी प्रकार प्राणमय भी परिच्छिन्न है और परिच्छिन्न होने से आत्मा नहीं है। तू अपने को जड़ और बोध रहित नहीं मानता, प्राण जड़ और बोध रहित है तब तुझसे विरुद्ध धर्म वाला प्राणमय कोश आत्मा किस प्रकार हो ? किसी प्रकार नहीं हो सकता।

शिष्यः—जब मैं प्राणमय कोश नहीं हूँ तो मुझे बताइये कि मैं कौन हूँ। मैं अपने को नहीं जानता इसलिये अनेक वस्तुओं में अपने होने की मुझे संभावना होती है। यदि मैं अपने को जान जाऊं तो ऐसी भूल न हो।

संतः—शास्त्रानुसार सद्गुरुओं की युक्ति द्वारा अधिकार क्रम से आत्मा का (अपना) बोध होता है। तू जो अपने को

प्रथम ही जानना चाहता है सो बन नहीं सकता। प्रथम शास्त्र और गुरु वाक्य में श्रद्धा करके इस प्रकार मान ले कि आत्मा सच्चिदानन्द, अक्रिय, अव्यक्त, अविकारी, आदि अंत रहित, सर्व का अधिष्ठान और अद्वैत है और जिस जिसमें आत्मा होने का भान होता हो उस पदार्थ के लक्षणों का उपरोक्त आत्मा के लक्षणों से मिलान कर। जिसमें वे मिलें उसको निश्चय कर कि आत्मा है और जिसमें न मिलें वह आत्मा नहीं है। इस प्रकार करते करते जब तू शुद्ध अंतःकरण वाला होकर आत्मबोध प्राप्त करने का अधिकारी हो जायगा तब गुरुदेव 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा तुझे आत्मा का उपदेश करेंगे और प्रथम तूने जिस आत्मा को बिना जाने श्रद्धा करके मान लिया था उसका तुझे अपरोक्ष बोध होगा। आत्मा को आत्मा होकर ही समझ सकता है इसलिये शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिक में आत्मा होने की भ्रान्ति के भाव को हटाने का प्रथम अभ्यास कर।

जिस प्रकार प्राणमय कोश तू (आत्मा) नहीं है इसी प्रकार वह तेरा (आत्मा का) भी नहीं है क्योंकि तू ज्ञान स्वरूप है और प्राण, वायु के विकार वाला जड़ स्वरूप है। तेरी स्थिति अद्वैत में है, प्राण की स्थिति द्वैत में है। अद्वैत में जब दूसरा पदार्थ ही नहीं है तब उसका प्राण किस प्रकार हो? भ्रान्ति स्वरूप प्राण का स्वामित्व सत्य अद्वैत तत्त्व किस प्रकार करे? प्राणमय कोश अज्ञान का है, माया में है, वायु का विकार है और स्थूल शरीर में चैतन्यता देने का कारण रूप है। तुझ आत्म तत्त्व और माया

में सैंकड़ों कोश का अन्तर है इतना ही नहीं किन्तु उसमें और तुझमें कार्य कारण भाव का संबंध भी नहीं है। तेरी और उसकी सत्ता ही एक नहीं है तब प्राण तेरा किस प्रकार हो? यदि तू कहे कि मैं अज्ञानी हूँ और माया में हूँ इसलिये अज्ञानी का प्राण हो सकता है तो इस प्रकार तो जगत् भर में ही हो रहा है तो यहां के उपदेश की विशेषता क्या? वास्तविक आत्मा अज्ञानी नहीं है। अज्ञान के भाव से ही आत्मा को कर्ता भोक्ता जीव समझ कर प्राणी दुखी होते हैं। जो तू अनेक प्रकार के दुःखों से छूटना और अपने आत्म-स्वरूप का बोध करना चाहता है, जो तेरी ऐसी दृढ़ निष्ठा है तो जिस प्रकार सद्गुरु तेरी योग्यता देख कर शास्त्रानुसार तुझे उपदेश करे उसको तू ग्रहण करता जा, इसमें ही तेरा कल्याण है।

जैसा जल होता है वैसा ही प्राण होता है। यदि जल विकारी होगा तो प्राण भी विकारी होगा। अन्य कारणों से भी प्राण विकारी हो जाता है। क्षुधा और तृषा लगना प्राण का धर्म है। आत्मा के जो लक्षण ऊपर बताये हैं इनमें से एक लक्षण भी प्राण में नहीं मिलता इसलिये प्राण आत्मा नहीं हैं।

श्रीमद्भागवत् के पुंरजनोपाख्यान में प्राण को चौकीदार बताया है। शरीर रूप नगरी में अनेक प्रकार की प्रजा रहती है, जब वह काम करते २ थक जाती है तब सोते समय प्राणरूप चौकीदार नगरी की रक्षा करता है, केवल वह ही जागता रहता है। जागता हुआ भी जड़ होने से वह रक्षा नहीं कर

सकता परन्तु नगरी पर जब कुछ क्षोभ होता है तब वह प्रजा को जगा देता है, यही उसकी चौकीदारी है। अब विचार कर कि एक सामान्य चौकीदार महान् साम्राज्य स्वरूप आत्मा किस प्रकार हो सकता है। पांच मुख का सर्प यही चौकीदार है, अपनी फुंकार से पांच प्रकार के विष उत्पन्न करने वाला है, और अनेक जन्मों तक अज्ञानियों को विष के प्रभाव से दुःख देने वाला है, ऐसा दुष्टात्मा सर्वव्यापक पवित्र आत्मा किस प्रकार हो सकता है ?

जैसे ग्राम में एक जमींदार होता है, उसकी जमीन में खेती करने वाले वहुत से कृषक होते हैं, उनमें किसी किसी के पास बैल-गाड़ी होती है। जब कुछ काम पड़ता है तब गाड़ी में बैठकर कृषक आया जाया करता है वह ही उसका मालिक है, गाड़ी हांकने वाला उसका एक नौकर है, बैलों की रास उसके हाथ में होती है, उससे वह बैलों को हांकता है और गाड़ी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। गाड़ी स्थूल शरीर रूप अन्नमय कोश है, बैल प्राणमय कोश है, क्योंकि वह स्थूल शरीर रूप गाड़ी को खींचने वाला है, उसे क्रिया करने वाला बनाता है। सारथी के हाथ में रहने वाली रास मनोमय कोश है, सारथी विज्ञान मय कोश है, सारथी और बैठने वाले के बीच में जो परदा पड़ा हुआ है वह आनन्दमय कोश है, बैठने वाला जीव है और गाड़ी जिस स्थान में फिरती है उनका मालिक—जमींदार आत्मा है, वह आत्मा तू है। अब विचार कर कि बैल रूप प्राणमय कोश तू नहीं है और

वह तेरा भी नहीं है, वह जीव का है तू तो स्थूल शरीर, प्राण और जीव तीनों का अधिष्ठाता है। जीव को बैलों का मालिक कह सकते हैं किन्तु जीव अज्ञान की उपाधि युक्त है तब स्वामी-पना अज्ञान का हुआ, जीव के शुद्ध तत्त्व आत्मा का स्वामीपना नहीं है इसलिये तू प्राणमय कोश नहीं है और वह तेरा भी नहीं है। प्राण रूप बैल जो गाड़ी का चलाने वाला है रास नहीं हो सकता, वह सारथी रूप विज्ञानमय, और परदा रूप आनन्दमय कोश भी नहीं हो सकता और बैठने वाला जीव भी नहीं हो सकता तब जमींदार रूप अधिष्ठान आत्मा किस प्रकार हो ?

एक विचरता हुआ साधु भवानीपुर नामक शहर में आया। वहां आत्माराम नामक एक नैष्ठिक ब्राह्मण रहता था। उसने साधु को भोजन करने के लिये निमंत्रण दिया और पूर्ण श्रद्धा से भोजन कराया। भोजन के पश्चात् दोनों एक एकांत कमरे में विश्रान्ति के निमित्त गये, वहां दोनों में यह बात चीत हुई:—

साधु:—महाशय! क्या आपके कोई पुत्र है ? कोई बालक दिखाई नहीं दिया इसलिये पूछता हूं। ब्राह्मण (आंखों में आंसू भर कर):—महाराज! क्या कहूँ, मुझ पर जो बीती है, मैं ही जानता हूँ। मेरे पुत्र है भी और नहीं भी है! साधु:—पुत्र के विषय में बात चीत होने पर तू इतना दुखी क्यों होता है ? संसार का चक्र इसी प्रकार चला करता है, हम साधु लोगों का काम किसी से कुछ ग्रहण करके सुबोध देने का है, तू सावधान होकर अपने पुत्र की कथा कह, फिर मैं अपनी बुद्धि अनुसार जिसमें

तेरा कल्याण होगा वैसा तुझे उपदेश करूंगा। ब्राह्मणः—महाराज! सुनिये:—मैं एक दिन अपने ग्राम अगम्यपुर से नदी के पार घूमने गया था। 'घूमते २ मैंने एक सुन्दरी देखी। उस समय तक मेरा विवाह नहीं हुआ था। उसको देख कर उसके साथ विवाह करने का विचार मेरे जी में हुआ। वह सुन्दरी भी मुझे देख कर प्रसन्न हो गई और कहने लगी "मैं आप जैसे योग्य ब्राह्मण की खोज में थी, मैं उपवर हुई हूं।" मैंने कहा "तू कौन है?" तब वह बोली "मैं जाति की शूद्रा हूँ, मेरा नाम बुद्धा दासी है, किंतु आपके योग्य हूँ।" मैंने कहा "मैं तो ब्राह्मण हूँ, मैं तेरे साथ विवाह किस प्रकार कर सकता हूँ?" सुन्दरी मुसकरा कर कहने लगी "अजी! आप तो भूलते हैं। जितनी स्त्रियां हैं, सभी शूद्रा हैं, शूद्रा से विवाह करने की शास्त्र की आज्ञा है।" मैं तो उस पर मोहित हो ही चुका था उसकी यह बात और शास्त्र का प्रमाण सुन कर विवाह करने को तैयार हो गया। सुन्दरी कहने लगी "चलिये, मेरा पिता तो है नहीं, अपनी माता के पास लिये चलती हूँ वह आपके साथ मेरा विवाह कर देगी।" मैं उसके साथ चला। वह मुझे एक सुन्दर मकान में ले गई और अपनी माता के पास मुझे खड़ा करके बोली "मैया! यह ब्राह्मण मुझे पसंद है।" डोकरी ने मुझे आदर सत्कार से बैठाया और मिष्ठान्न भोजन कराया। दूसरे दिन बुद्धा दासी मेरे साथ विवाही गई। थोड़े दिन पीछे मैंने अपने स्थान पर लौटना चाहा। अपनी स्त्री को साथ लेकर मैं वहां से चला और जब भवानीपुर की हद से आगे चलने लगा तब मेरी स्त्री रोने लगी और कहने लगी "मैं

आगे नहीं चल सकती, यदि आप मुझको चाहते हो तो इसी देश में रहो।" मैंने उसके कहने से वहीं एक मकान बना लिया और वहीं रहने लगा। जहां आप बैठे हो यह वही स्थान है। कई वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु हमारे कोई संतान न हुई। मेरी स्त्री को संतान की बहुत चाह थी इसलिये वह बहुत दुखी रहती थी, उसे दुखी देख कर मैं भी दुखी होता था। कभी २ वह अपना जी बहलाने के लिये अपनी माता के पास चली जाती थी। एक बार वह अपनी ननसाल गई और मुझे भी उसे लेने वहां जाना पड़ा। हम दोनों वहां से लौट रहे थे, मार्ग में हमें दो लड़के नदी के किनारे लेटे हुए मिले। दोनों बालक बहुत ही सुन्दर थे। उनमें से एक का रंग श्वेत था और दूसरे का कुछ लाली लिये हुए था। पास जाकर देखा तो दोनों एक ही कपड़ा ओढ़े हुए थे, श्वेत रंग के बच्चे के गले में एक कागज़ की चिट्ठी बंधी हुई देखी, उस चिट्ठी को खोल कर देखा तो उसमें यह लिखा था। "जिसके बच्चा न हो और बच्चा चाहता हो तो वह दोनों बच्चों को ले जाय, एक ही मनुष्य दोनों को रक्खे।" मेरी स्त्री बच्चों को देख कर बहुत प्रसन्न हुई। हमने दोनों बच्चों को उठा लिया और उन्हें ले कर अपने मकान पर आये। स्त्री दोनों बच्चों के काम काज म लग गई, जिससे प्रथम से कुछ दुःख कम हो गया। दोनों लड़के बड़े होने लगे। जब वे डेढ़ वर्ष के हुए तब मालूम हुआ कि गोरा लड़का पंगु है, देखने में तो पैर थे किंतु उनसे चल नहीं सकता था, दूसरा लाल रंग का लड़का अंधा था, आंखें तो दिखाई देती थीं परंतु उनसे उसे कुछ दीखता न था। इस प्रकार दोनों लड़के

अपंग देख कर हम दोनों बहुत दुखी हुए। जन्म का रोग होने से औषधोपचार से चला जाना संभव न था। अब तो हमारा दुःख प्रथम से भी अधिक हो गया। जब दोनों लड़के कुछ और बड़े हुए तब बहुत ही ऊधमी मालूम हुए, दोनों आपस में लड़ा करते, एक दूसरे को अपशब्दों से पूजा करता, हम दोनों से भी कटु वचन कहा करते और मारते, जब उनकी मा घर में कुछ काम करती तो करने न देते। सुख की इच्छा से लड़कों को लाये थे, उलटे दुःख के कारण हो गये। जब वे नौ वर्ष के हुए तब दोनों ने एक युक्ति रची। गौरांग पंगु लड़का जिसका नाम मनोहर था, प्राणशंकर नामक रक्त वर्ण वाले अंधे लड़के के कंधे पर चढ़ बैठा और इस प्रकार दोनों दूर दूर तक घूमने चले जाया करें; हम बहुत कष्ट पाकर खोज करके लाया करें। दिन प्रतिदिन उपद्रव बढ़ता गया। एक दिन स्त्री पुरुष हम दोनों ने क्रोध में आकर दोनों को खूब पीटा और घर से बाहर निकाल दिया, तब से घर में शान्ति रहती है। लड़के निकाल दिये हैं परन्तु उनका प्रेम हमारे चित्त से नहीं निकला है। मेरी स्त्री को दिव्य दृष्टि है, लड़के कहां कहां जाते हैं और कैसे कष्ट उठाते हैं, ये सब बातें वह मुझसे कहा करती है इसलिये हम दोनों दुखी बने रहते हैं। कभी कभी लड़कों को घर में बुलाने की इच्छा होती है परन्तु उनके उपद्रवों को याद करके चुप हो जाते हैं। कभी वे भूखे रहते हैं, कभी जेलखाने में पड़ जाते हैं, कभी चोरी करते हैं, सदैव दुःख पाते हैं और हमें भी दुखी करते हैं।

साधुः—तेरा सब वृत्तांत मैंने सुन लिया तू आप ही अपने दुःख

का कारण है। तू अकेला स्वतंत्रता से मौज में था, प्रथम तो स्त्री की उपाधि करके स्त्री वाला हुआ, फिर पुत्र की इच्छा से पुत्र वाला हुआ, अब दुखी क्यों होता है ? जो कुछ तूने किया है, अपनी इच्छा से किया है। स्त्री के लिये तूने अपना देश छोड़ा और उसके कारण से ही तू लड़कों से दुखी है। लड़कों को मार्ग में से उठा लाया है और स्त्री भी मार्ग में ही प्राप्त हुई है। जो वस्तु तेरी नहीं है उसको अपनी मानकर तू दुखी है। जो तेरी इच्छा थी वह ही आभास रूप होकर माया की नदी के जल में प्रतिबिम्बित हुई, तेरी और प्रतिबिम्ब की इच्छा ने सास बनाई, विवाह हुआ, संतान की इच्छा के प्रतिबिम्ब रूप दो पुत्र पंगु और अंधे तुमने देखे। तू अपने देश और प्रभाव को भूल गया है इसलिये आपत्तियां उपस्थित हुई हैं, तू तो आत्माराम है, ब्राह्मण-ब्रह्म है, तुझमें इच्छा कहां ? विचार कर, जब तूने अज्ञान धारण किया तब गृहस्थ बना और दुखी हुआ।".

आत्माराम साधु के सब वाक्य सुनकर ठीक ठीक विचार करने और ममता मोह को हटाने लगा। इतने ही में बिजली की दो चमक घर में घुसती हुई मालूम हुईं, और दोनों बुद्धादासी में प्रविष्ट हो गईं। बुद्धादासी उसी क्षण अलोप हो गई और एक भारी प्रकाश आत्माराम की तरफ आकर उसमें प्रवेश कर गया। आत्माराम थोड़ा चौंका और श्रद्धा सहित साधु से पूछने लगा "महाराज ! यह क्या चमत्कार हुआ ?" साधु ने कहा अब तुझे चमत्कार जानने की आवश्यकता नहीं है। अब

तू, आत्माराम! आत्माराम बना है। सुनः-तेरे दोनों पुत्र मायापुरी में विहार करते थे। जब मैं तुझे उपदेश देने लगा और जब तेरी आस्था स्त्री पुत्रों पर से हटने लगी तब तेरे माने हुए लड़के मनोहर और प्राणशंकर आपस में लड़ने लगे। प्राणशंकर ने मनोहर के लात मारी जिससे उसका पैर सीधा हो गया और मनोहर ने प्राणशंकर के तमाचा मारा जिससे उसकी आंखें खुल गईं। दोनों दिव्य रूप को प्राप्त होकर अपनी कारण रूप माता तेरी स्त्री बुद्धादासी में घुस गये। जब तेरी ममता बुद्धादासी में से हटी तब वह भी दिव्य स्वरूप को प्राप्त हुई और दिव्यता के कारण स्वरूप (तुझ) में प्रवेश कर गई! इस प्रकार आत्माराम की गृहस्थी छूट गई और वह अपने आद्य स्वरूप को प्राप्त हुआ। साधु वहां से विचरने चल दिया।

आत्माराम आत्मा है, आत्मा की हद्द रूप नदी के पार वह सैर करने गया, वहां माया के जल में उसने अपना बिम्ब देखा, स्त्री की भावना होने से स्त्री दीखी, माया में पड़ा हुआ चैतन्यता का प्रकाश बुद्धादासी रूप बुद्धि है, उसने अपने को शूद्रा बताया आत्मा विभु है, इसलिये वह शूद्रा है, उसकी बूढ़ी मा वासना है। जब आत्मा बुद्धि के प्रकाश के भाव वाला हुआ तब दोनों के प्रतिबिम्ब रूप दो पुत्र देखे। गौरांग जिसका नाम मनोहर था, मन है। मन पंगु है क्योंकि उसके पैर नहीं हैं, दूसरा लाल वर्ण वाला प्राणशंकर प्राण है और आंखें न होने से अंधा है। पंगु मन अंधे प्राण पर सवार होकर मायापुरी में घूमता है और अनेक

प्रकार के कष्ट उठाता है। आत्मा की सन्निधि-प्रेम भाव से ही इन सब का मायिक स्वरूप में जीवन है। जब आत्मा अपने आत्म भाव में टिकता है तब माया का यह सब विस्तार लोप हो जाता है।

ऊपर के दृष्टांत से तेरी समझ में आ गया होगा कि प्राणमय कोश क्या है। ऐसे प्राणमय कोश को तू आत्मा कहता है, यह तेरी कितनी मूर्खता है। यदि कोई तुझे अंधा बतावे तो तुझे कितना दुःख होगा। तू स्वयं अंधे जड़ प्राण को आत्मा मानता है यह तेरा अज्ञान है। इसको तीव्र वैराग्य के बल से गुरु और शास्त्र पर श्रद्धा रख कर दूर कर। जिस प्रकार लोहार की धौंकनी में वायु भरती और निकलती है इसी प्रकार तेरे पंचभौतिक शरीर में प्राण रूप वायु भरती है और निकल जाती है। इसलिये हृदय में इन शब्दों को अंकित कर "प्राणमय कोश मैं नहीं हूँ, प्राणमय कोश मेरा नहीं है, मैं उसका द्रष्टा उससे पृथक् सच्चिदानन्द, अव्यय, अनाद्यंत, निर्विकार निरंजन आत्मा हूँ।"
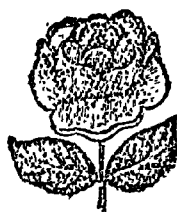
मनोमय कोश ।

मन और पांच ज्ञानेन्द्रियों को मनोमय कोश कहते हैं। पांचों कोशों में यह कोश मध्य का है। दो कोश उससे सूक्ष्म हैं और दो स्थूल हैं। मनोमय अपने ऊपर के विज्ञानमय और आनन्दमय दो सूक्ष्म कोशों से पूर्ण होकर नीचे के प्राणमय और अन्नमय दो स्थूल कोशों को पूर्ण करता है। यह कोश विज्ञानमय और आनंदमय कोशों से पृथक् कभी नहीं रह सकता। यह सूक्ष्म शरीर में होने पर भी ऊपर के विज्ञानमय से स्थूल है और नीचे के प्राणमय कोश से सूक्ष्म है। इसी कोश से स्थूल और सूक्ष्म का जुड़ान होता है। यह कोश सूक्ष्म होने से स्थूल पदार्थों की समान स्थूल दृष्टि का विषय नहीं है, सूक्ष्म बुद्धि का विषय है।

अनेक प्रकार की कल्पनाओं के होने का नाम संकल्प है, एक संकल्प में से हट कर दूसरे संकल्प में आना विकल्प है अथवा एक कल्पना से अनेक कल्पनाओं में आना विकल्प है अथवा एक कल्पना के पश्चात् उससे विरुद्ध कल्पना या कल्पनाओं की परम्परा में आना विकल्प है। इस प्रकार संकल्प विकल्प जिससे होता है वह मन है।

कार्य से कारण का पता लगता है। यद्यपि मन को नहीं जानते परन्तु जो कार्य वह करता है उसको जान कर उसके करने वाले को मन समझना चाहिये। इस प्रकार संकल्प विकल्प करने वाला मन है।

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयों को ग्रहण करती हैं। जब मन उनसे युक्त होता है तभी वे विषय को ग्रहण कर सकती हैं इसलिये ज्ञानेन्द्रियां और मन मिल कर जिस एक भाव को प्राप्त होते हैं वह मनोमय कोश है।

सामान्यता से तो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार माया, अज्ञान और जीव ये सब एक भाव से बर्तते हैं परन्तु मनोमय कोश में इस प्रकार न समझना चाहिये। "मन ही बन्धन का कारण है, और मन ही मोक्ष का कारण है" ऐसा जहां कहा है वहां मन को विस्तार वाला समझ कर कहा है। बुद्धि रहित मनोमय कोश इतने विस्तार वाला नहीं है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चारों एक होने पर भी कार्य की उपाधि भेद से भेद वाले हैं। पांचों कोशों में अन्नमय और प्राणमय अन्तिम कोश, मनोमय, विज्ञान-मय और आनन्दमय से स्थूल हैं इसलिये स्थूल होने से उनमें अन्य सूक्ष्म कोशों की अपेक्षा चैतन्य का प्रकाश कम पड़ता है, और सूक्ष्म तीन कोशों में विशेष पड़ता है।

चेतन सत् चित् आनन्द स्वरूप है। आनन्दमय कोश में आनन्द का, विज्ञानमय में चित् का और मनोमय में सत् का आभास है। मनोमय सत् का आभास वाला होने से इन्द्रियों और विषयों को सत्य रूप से ग्रहण करता है इसलिये मन जड़ होकर भी चैतन्य की सत् सत्ता से चैतन्यता वाला होकर कार्य में प्रवृत्त होता है। इसी कारण कोई २ उसे अर्ध चैतन्य भी कहते हैं क्योंकि वह जड़ और चैतन्य के मध्य में है।

मन का देवता चन्द्र है। जैसे चन्द्र सूर्य का प्रकाश लेकर प्रकाशित होता है ऐसे ही मन ब्रह्म के सत् रूप प्रकाश से प्रकाशित होता है। जैसे ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द वस्तुतः तीन पदार्थ नहीं हैं ऐसे ही मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश भी तीन नहीं हैं। आनन्द ही अन्य उपाधियों से चित् होता है और चित् ही उपाधि संयुक्त सत् होता है। इसी प्रकार मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश को समझो।

मनोमय कोश समझ में आने के निमित्त इस प्रकार समझाते हैं:—एक मकान में तीन कमरे इस प्रकार बने हैं कि क्रम से एक के भीतर एक है। प्रथम कमरे में जो प्रकाश पड़ता है वह ही दूसरे में और फिर वह ही तीसरे में जाता है। इस प्रकार एक से एक दूर होने से उन तीनों कमरों के प्रकाश में अन्तर है यद्यपि प्रकाश तीनों में एक ही है। इस प्रकार आनन्द, चित्, और सत् एक हैं। आनन्दमय और विज्ञानमय कमरों में से पड़ा हुआ प्रकाश तीसरा मनोमय रूप कमरा मनोमय कोश है। मन में जो सत् है वह परब्रह्म का है परंतु दो कमरों में होकर तीसरे में पड़ने से दूरी के कारण विकार वाला हुआ है। असत् पदार्थों को सत् मानना मन का विकार है।

पांच ज्ञानेन्द्रियां हवन करने वाली होता रूप हैं। विषय रूपी घी के प्रवाह से मन रूप अग्नि प्रदीप्त होता है और अनेक प्रकार की वासना रूप लकड़ियों से प्रज्वलित मनोमय कोश सब प्रपंच का वहन करता है। मनोमय रूप अग्नि वासना रूप लक-

ड्रियों से उत्पन्न और विषय रूपी घी से वृद्धि को प्राप्त होता है और ज्ञान रूपी जल विना कभी शांत नहीं होता।

मन ही अविद्या है, अज्ञान से संसार रूपी बंधन में डालने वाला और ज्ञान द्वारा बंधन से छुड़ाने वाला मन ही है। मन का नाश ही सब प्रपंच का नाश है। मन की वृद्धि से सब प्रपंच वृद्धि को प्राप्त होता है। मन अपनी शक्ति से जैसे स्वप्न में कुछ न होते हुए भी विश्व उत्पन्न कर देता है, इसी प्रकार जाग्रत में जगत् उत्पन्न करने वाला मन ही है। उसीसे सब प्रपंच का विकास समझो। यदि मन से जगत् की उत्पत्ति न होती तो सुषुप्ति में भी जगत् रहना चाहिये था। सुषुप्ति में जगत् नहीं रहता क्योंकि उस समय मन दब जाता है—प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये सुषुप्ति अवस्था में जगत् भी दब जाता है। जैसे मायावी (जादूगर) की सृष्टि मायावी के साथ ही होती है इसी प्रकार मन रूपी मायावी की सृष्टि मन के साथ ही रहती है इससे सिद्ध होता है कि मन ही जगत् रूप होकर भासता है। संसार का जो कुछ दृश्य है सब मन का ही कल्पा हुआ है। जैसे वायु के दो कार्य हैं, वायु मेघ को ले आता है और उड़ा भी ले जाता है इसी प्रकार मन से दो कार्य होते हैं। संसार की तरफ लक्ष वाला होने से वह बंधन लाने वाला होता है और आत्मा का लक्ष होने से मुक्त भी वह ही करता है। जैसे पशु को रस्सी से बांध कर उससे अनेक प्रकार के कार्य कराये जाते हैं इसी प्रकार मन देहादिक विषयों में राग करा के पुरुष को अनेक योनियों में

भटकाता है, और वह ही मन जब विषयों से वैराग्य को प्राप्त होता है तब पुरुष को बंधन से मुक्त कर देता है।

प्रकृति के सत् रज और तम तीनों गुण न्यूनाधिक प्रमाण में सब पदार्थों में रहते हैं। इस प्रमाण को न्यूनाधिक भी कर सकते हैं। जब मन रजोगुण से विशेष युक्त होता है तब बंधन का कारण होता है और जब रजो तमोगुण से रहित शुद्ध होता है तब मोक्ष का कारण होता है।

विषय रूपी महान् वन है, उसमें मन रूप व्याघ्र घूमा करता है, इस लिये जिसको मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा है, उसे विषय रूपी अरण्य में घूमना न चाहिये। विचार करके देखा जाय तो मन ही स्थूल और सूक्ष्म विषयों को उत्पन्न करता है। शरीर, वर्ण, आश्रम, जाति, भेद, गुण, क्रिया, कारण और उनके फल को उत्पन्न करने वाला मन ही है। आत्मा संग रहित चैतन्य शुद्ध स्वरूप है, उसे मोह में डालने वाला मन है। वह ही अपने उत्पन्न किये हुए देह, इन्द्रिय और प्राण के गुणों में और उनसे बने हुए कृत्य और भोग के फल में अहंबुद्धि करा के भ्रमण कराने वाला है, अध्यास का हेतु मन ही है। रजोगुण और तमोगुण से मोह उत्पन्न होता है, मोह से अध्यास होता है, मन रजोगुण और तमोगुण युक्त है। अविवेकी पुरुषों को वह जन्म मरण का हेतु है, अहंता और ममता करने वाला वह ही है। "मैं शरीर हूं" ऐसा अभिमान अहंता है और 'स्त्री, पुत्र, धनादिक मेरे हैं' ऐसा भाव ममता है। मन शरीर में रह कर इन्द्रियों द्वारा बाहर

जाता है, ऊंचे नीचे स्थानों में प्राप्त होना मन से ही होता है इसलिये मन दूत है। और सब स्थानों में भ्रमाने वाला होने से भूत है।

आत्माराम नामक एक साहूकार सब प्रकार से समृद्धि वाला था, एक बार वह बटुकनाथ का मेला देखने गया। यह मेला बहुत भारी हुआ करता था, अनेक प्रकार के आश्चर्य जनक पदार्थ वहां मिलते थे। कहा तो ऐसा जाता है कि ब्रह्मांड भर में जितने पदार्थ हैं सभी वहां मिलते थे। जो जिसकी इच्छा होती उसको ही बेचता अथवा खरीदता था। कई देवता भी उस मेले में जाने को मेले के समय की प्रतीक्षा किया करते थे।

आत्माराम ने सब मेला देखा। बहुत प्रकार के सुन्दर पदार्थ होते हुए भी उसे कोई लुभा न सके। एक पेड़के नीचे एक मनुष्य एक पिटारी लिये बैठा था। साहूकार ने उसके पास जाकर कहा "मित्र! तेरी पिटारी में क्या है? तू क्या बेचने को बैठा है? मैले कुचैले कपड़े पहने हुए मनुष्य ने कहा "सेठ जी! इस पिटारी में एक भूत है, मैं उसे बेचना चाहता हूं!" साहूकार ने कहा "वह किस काम में आता है?" बेचने वाले ने कहा "बहुत काम की चीज़ है। दिन रात उससे काम लिया जाता है, वह कभी थकता नहीं है, कोई काम कैसा भी भारी हो, कितने ही बलिष्ठ मनुष्य जिसको मिल कर न कर सकें, उसे वह अकेला ही बहुत शीघ्र कर देता है। उसकी सामर्थ्य के आगे भीम या हनूमान की सामर्थ्य भी कुछ नहीं है। ब्रह्मा ने जब उसे निर्माण किया तब

उसमें आलस्य रखना भूल गया, वह कभी बैठा नहीं रहता।" साहूकार ने कहा "चीज तो अच्छी है क्या उसमें कोई दोष भी है? जो हो तो बता दो" भूत व्यापारी ने कहा 'एक ही दोष उसमें है। जब उसे काम करने को नहीं मिलता, तब वह मालिक को खा जाता है। जिसका काम कभी न निबटता हो उसके लिये यह बहुत ही काम का है।" आत्माराम जी मैं सोचने लगा "मेरे यहां तो बहुत बड़ा व्यापार होता है, मेरे यहां का काम कभी निबटने वाला ही नहीं है, इसलिये उसमें जो दोष है उसकी कुछ चिन्ता नहीं है।" यह विचार कर भूत व्यापारी से कहा, "वह खाता क्या है?" व्यापारी ने कहा, "काम ही उसका भोजन है, सिवाय काम के और कुछ नहीं खाता।" आत्माराम ने कहा "ठीक! उसके दाम क्या हैं?" व्यापारी ने कहा "एक लक्ष रुपये"। साहूकार ने रुपये दे दिये और व्यापारी ने पिटारी में से भूत निकाल कर दे दिया। भूत साहूकार के सामने खड़ा होकर कहने लगा "काम बता, नहीं तो तुझे खाये जाता हूं।" साहूकार ने कहा "मुझे डेरे पर पहुँचा दे।" भूत ने साहूकार को अपने कंधे पर बैठाकर क्षण भर में डेरे पर पहुँचा दिया और फिर सामने खड़ा होकर कहने लगा "काम बता, नहीं तो तुझे खा जाऊंगा।" साहूकार ने अनेक प्रकार की रसोई बनाने को कहा। भूत ने थोड़ी देर में अनेक प्रकार की रसोई बना दी। और सामने आ कहने लगा "काम बता, नहीं तो तुझे खा जाऊँगा।" साहूकार ने एक बहुत सुन्दर लम्बा चौड़ा मकान बनाने की आज्ञा दी। भूत इस भारी कई

वर्षों के काम को थोड़ी देर में करके लौट आया और साहूकार के सामने खड़ा होकर कहने लगा "काम बता, नहीं तो तुझे खा जाऊंगा।" साहूकार ने एक बगीचा लगाने को आज्ञा दी। भूत बगीचा लगाने चला गया, साहूकार सोचने लगा "भूत बड़ी जल्दी काम करके आजाता है, उसके लिये काम तैयार कर रखना चाहिये, भूत क्या है, काम करने वाला पूरा खबीस है।" इतने में भूत बगीचा लगा कर आगया। साहूकार ने कुंवा खोदने को बता दिया। चण भर में कुंवा भी खुद गया। इस प्रकार भूत काम बताते ही कर दिया करे और साहूकार को चैन न लेने दे। साहूकार का सुख से खाना पीना भी छूट गया। चार घंटे में ही चिन्ता के मारे शरीर आधा रह गया। वह जी में पछताने लगा "कैसी मुश्किल है। सैकड़ों वर्षों में जो काम पूरा न हो, वह काम भूत ने आधे ही दिन में कर डाला। चण चण में उसे काम बताना पड़ता है। उसे लेकर मैं बड़ी आपत्ति में पड़ गया।" इस प्रकार पछतावे और भूत को छोड़ना चाहे परन्तु वह न छूटे। दूसरा कोई उसे मोल न ले। ऐसा करते हुए साहूकार को तीन दिन तीन युग की समान व्यतीत हुए। उसने सच्चे दिल से ईश्वर की बहुत ही प्रार्थना की। ईश्वर ने प्रत्यच रूप से तो आकर भूत को अलग न किया परन्तु साहूकार की प्रार्थना से प्रसन्न होकर एक साधु को उसके पास भेज दिया। साहूकार ने बहुत आदर सत्कार से साधु को भोजन कराया। भोजन के पीछे साधु ने साहूकार को बहुत दुर्बल देख कर कहा "सेठ जी ! इतने दुर्बल क्यों हो गये हो ?" साहूकार ने

कहा "मैं एक वार वटुकनाथ के मेले में गया था, वहां से एक भूत खरीद लाया हूं, वह काम बहुत ही शीघ्र करता है परन्तु यदि उसे कोई काम न वताया जाय तो वह मालिक को खा जाय। उसको काम वताते वताते चिन्ता के मारे मैं दुर्वल हो गया हूँ। मैं वहुत दिनों में पूरा होने वाला काम बताता हूँ, वह क्षण भर में उसे करके मेरे पास लौट आता है और और काम मांगता है, मैं चाहता हूँ कि वह किसी प्रकार चला जाय, तो अच्छा हो, इस आपत्ति से मैं दुःखी हूँ, आप कोई ऐसा काम बता दीजिये जिससे वारम्वार काम वताने की चिन्ता मिट जाय।" साधु ने कहा "घवराने का कुछ काम नहीं है, बहुत काम करने वाले भूत को छोड़ देना भी अच्छा नहीं है। तू एक सात गांठ का लम्बा वांस लेकर पृथ्वी में गड़वा दे और उस पर बारम्बार चढ़ने उतरने का काम भूत को. वतादे, जब तुझे और काम कराना हो तो उसके करने की आज्ञा दिया कर, जब वह काम हो जाय तब फिर वांस पर चढ़ने उतरने को वता दिया कर।" यह युक्ति सुनकर साहूकार प्रसन्न हुआ और साधु को प्रणाम करके कहने लगा "आपने मुझे भूत की वला से निवृत्त किया है, आपका जितना आभार मानूं उतना ही थोड़ा है।" इतने में भूत आगया और साधु चले गये। भूत से एक सात गांठ का दृढ़ लम्बा वांस मंगवा पृथ्वी में गड़वा उसके ऊपर वारम्बार चढ़ने उतरने की भूत को आज्ञा देकर साहूकार सुखी हुआ। वह भूत अभी तक वांस पर चढ़ उतर रहा है। जव कुछ काम होना है तब साहूकार उससे करा लेता है और फिर उसे उसी

चढ़ने उतरने के पुराने काम में लगा देता है। अब साहूकार आनंद में है और भूत के खा जाने के भय से हमेशा के लिये मुक्त है।

सिद्धान्तः—आत्माराम साहूकार आत्मा है, बटुकेश्वर रूप जीव है संसार उसका मेला है। यहां सब पदार्थों के साथ मन रूप भूत भी बिकता है। भूत का बेचने वाला मैला कुचैला काम है। आत्मा काम कराने के लिये मन को खरीदता है, मन महा बलिष्ठ है जो काम करने को कहा जाता हैं सत्वर कर देता है। जब काम नहीं दिया जाता तब आत्मा को खाता है-आसक्ति युक्त बुरे संकल्प किया करता हैं, जिससे आत्मा को अधोगति प्राप्त होती है यह ही आत्मा का खा जाना है। आत्मा जब मन को मोल लेकर जीव भाव को प्राप्त होता है तब चिंताग्रसित होता है। दुःख से बचने के लिये शुभ कर्म सहित ईश्वर की उपासना करता है उससे अंतःकरण मल विक्षेप रहित होता है। शुद्ध अंतःकरण वाला उपदेश का अधिकारी होता है। अधिकारी होने से उपदेशक साधु मिलता है और मन को वशीभूत करने के उपाय और काम लेने की रीति का उपदेश करता हैं। जो बांस गड़वाया था वह मेरुदंड है उसमें सात ग्रंथि योग के सात चक्र हैं। आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और अजरामर ये सात चक्र हैं, आधार चक्र गुदास्थान पर, स्वाधिष्ठान चक्र लिंगेंद्रिय में, मणिपुर नाभि में, अनाहत हृदय में, विशुद्ध कंठ में, आज्ञाचक्र भ्रुवों के मध्य में। और अजरामर सहस्र दल कमल वाला चक्र मस्तक—ब्रह्मरन्ध्र में है। ये चक्र जब पूर्वाभिमुख

होते हैं, तब वृत्ति जगत् के प्रपंच की तरफ होती है और जब ऊपर आते हुए पश्चिमाभिमुख होते हैं तब आत्मभाव होता है। मन अत्यंत चंचल है। उपरोक्त बांस की सातों गाठों पर चढ़ने उतरने का काम देने से वह अनर्थों से बच जाता है, समय पर शरीर निर्वाह आदिक आवश्यक क्रिया उससे करा ली जाती है। निर्मल होने पर वह ही मन आत्मभाव वाला होजाता है। इन्द्रियों सहित मन जिसको मनोमय कोश कहते हैं वह ही भूत है। जब मन काम में लग जाता है तब इन्द्रियां और उनका भाव उसके साथ होता है। मन की प्रवृत्ति ज्ञानेन्द्रिय संयुक्त होती है। योग शास्त्र में बताया हुआ प्रत्याहार मनोमय कोश में होता है, धारणा विज्ञानमय कोश में होती है, ध्यान आनन्दमय कोश में होता है और समाधि आनन्दमय कोश से परे होती है। प्रपंच में फंसे हुए मनुष्यों को मन का शुद्ध करना अत्यन्त कठिन है तो भी वैराग्य और अभ्यास के सतत प्रवाह से मन वशीभूत और शुद्ध होजाता है। उपरोक्त दृष्टांत से मनोमय कोश भली प्रकार समझ में आगया होगा।

वेदान्त का हंस और सोहं का जाप—मनन भी मन की निर्मलता का और आत्मभाव प्राप्ति का हेतु है, वह इस प्रकार है:- हंस, जो हं और सो से बना है जीवात्मा का नाम है। हं अपने को कहते हैं और सो का अर्थ वह है। हं बोलने में बाहर का वायु भीतर जाता है और सो बोलने में भीतर का वायु बाहर आता है। बाहर व्यापक अधिष्ठान रूप जो परब्रह्म है और जिस अधिष्ठान में अव्यक्त जगत् की प्रतीति होती है, वह वस्तु रूप

परब्रह्म 'अहं'-मुझमें भरा हुआ शुद्ध तत्त्व है उस परमात्मा को वस्तु रूप से 'अहं'-मुझसे एकता है इस प्रकार की उपासना से अद्वैतता दृढ़ होती है। व्यवहार निवृत्त मन को अवकाश न देकर इस प्रकार के अभ्यास में लगाना चाहिये।

शास्त्र और गुरु से जो आत्मा के लक्षण सुने हैं वे लक्षण मनोमय कोश में नहीं हैं। आत्मा नित्य, अविकारी, अक्रिय, अव्यक्त, अज, अविनाशी, व्यापक, विभु, मुक्तस्वरूप, ज्ञान स्वरूप, अद्वैत, द्रष्टा और सुख स्वरूप है। मन हमेशा सम भाव में नहीं रहता, ज्ञान से उसका नाश होजाता है, इसलिये वह नित्य नहीं है, काम, क्रोधादिक वृत्ति युक्त होने से नियम रहित स्वभाव वाला है इसलिये विकारी है, क्रिया करता, कराता है, इसलिये अक्रिय नहीं है, प्राणियों में पृथक् भाव से रहने वाला होने से व्यक्त है, अव्यक्त नहीं है, उत्पत्ति वाला होने से अज नहीं है, विषयांतर में जाकर एक भाव से दूसरे भाव को और सुषुप्ति में अभाव को प्राप्त होता है, और अज्ञान के नाश होने से समूल नष्ट होजाता है इसलिये अविनाशी नहीं है, शरीर के सिवाय और कहीं न होने से व्यापक नहीं है, अणु होने से विभु नहीं है, बन्धन का और मोक्ष का हेतु होने से मुक्त स्वरूप नहीं है, अज्ञान का कार्य और परिच्छिन्न होने से ज्ञान स्वरूप नहीं है, प्राणियों में भिन्न भिन्न और द्वैत में प्रवृत्त होने से अद्वैत नहीं है, दृश्य होने से द्रष्टा नहीं है और माया में होने से सुख स्वरूप नहीं है परन्तु इन सब से विरुद्ध अनित्य, विकारी, क्रिया वाला, व्यक्त, जन्मने वाला, विनाशी, परिच्छिन्न, अणु, बन्ध स्वरूप, अज्ञान स्वरूप, द्वैत,

दृश्य और दुःख रूप है इसलिये वह आत्मा नहीं है। आत्मा का और उसका एक भी लक्षण नहीं :मिलता आत्मा के लक्षणों से उसके सब लक्षण विरुद्ध हैं। इसलिये मन को आत्मा मत मान क्योंकि आत्मा उससे भिन्न अविशेष है।

शिष्य:—मन को आत्मा न मानूं तो किसको आत्मा मानूं? मन सिवाय और कोई आत्मा देखने-समझने में नहीं आता, उससे विशेष कोई है नहीं, वह ही सब कुछ है। जिस मन को आत्मा से विरुद्ध लक्षण वाला दिखलाया है, उस अशुद्ध मन के लक्षण आत्मा से नहीं मिलते हैं, इसलिये अशुद्ध मन को मैं आत्मा न मानूं यह कहो तो ठीक है परन्तु शुद्ध मन तो आत्मा ही है।

गुरु:—जब तू मन को शुद्ध और अशुद्ध बताता है, तब वह विकारी ही हुआ। आत्मा के लक्षणों से विरुद्ध जो मन के लक्षण बताये हैं वे मात्र अशुद्ध मन के ही नहीं हैं किन्तु शुद्धाशुद्ध दोनों प्रकार के लक्षण वाले मन के हैं। शुद्ध मन भी माया के गुणों से रहित नहीं है तब जहां माया की गन्ध भी नहीं है ऐसा आत्मा मन किस प्रकार हो? जो जो लक्षण आत्मा के और मन के मैंने बताये हैं उनका सूक्ष्म बुद्धि से विचार कर, मिलान कर, तब तुझे मालूम हो जायगा कि मन और आत्मा में महान् अन्तर है। मन के सिवाय आत्मा कहीं नहीं दीखता यह तेरा कहना तेरी स्थिति के अनुसार है। मैं तुझे आत्मा का स्वरूप पीछे समझाऊंगा अभी तो मन आत्मा नहीं है इतना ही निश्चय कर।

शिष्य ने गुरु के उपदेश अनुसार मन और आत्मा के लक्षण मिलाये तो न मिले, तब उसने निश्चय किया कि मन आत्मा नहीं है, और गुरु से कहा:—महाराज ! मैं समझ गया, मन आत्मा नहीं है, इसलिये मैं मन नहीं हूँ, आत्मा स्वरूप हूँ, परन्तु मन मेरा है ऐसा मैं कहता हूँ और ऐसा ही होगा क्योंकि उसके ऊपर मेरा स्वामित्व है।

गुरु:—ऐसा भी नहीं है, जैसे मन तू नहीं है ऐसे ही मन तेरा भी नहीं है। मन माया के गुणों से बना है इसलिये माया का है। मन चैतन्य नहीं है क्योंकि वह चैतन्य आत्मा से नहीं बना है। जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसी का वह होता है। आत्मा किसी को उत्पन्न नहीं करता इसलिये मन उसका नहीं है। स्वामित्व के सम्बन्ध से मन मेरा है, ऐसा कहे तो यह भी नहीं है क्योंकि स्वामित्व समान अवस्था में होता है, मन की और आत्मा की समान अवस्था नहीं है। जिस प्रकार किसी पुरुष को स्वप्न में धन मिले तो उसी अवस्था में उसका धन से सम्बन्ध होता है, जाग्रत में उस धनसे सम्बन्ध नहीं होता है, जाग्रत में उस धन से धनाढ्य नहीं होता है, क्योंकि स्वप्न के धन का जाग्रत में सम्बन्ध नहीं रहता इसी प्रकार माया का मन माया की अवस्था में है, आत्मा माया की अवस्था रहित है, आत्मभाव में माया नहीं है तब माया का मन आत्मा का किस प्रकार हो ? मन से आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

शिष्य आश्चर्य को प्राप्त होकर बोला:—आपने कहा है कि आत्मा की सत्ता से सत्ता वाला होकर मन कार्य करता है, फिर यह किस प्रकार हो सकता है ?

गुरु:—आत्मा मन को सत्ता नहीं देता, माया का मन माया में ही प्रवृत्त हैं। आत्मा की सत्ता तो समान सत्ता है जो ब्रह्मांड भर में समान फैली हुई है। वह अपनी तरफ से मन को कोई विशेष-मुख्य सत्ता नहीं देता और पदार्थों से जो विशेष सत्ता मन में प्रतीत होती है वह मन की निर्मलता का कारण है।

जब मन का भाव होता है तब आत्मभाव नहीं रहता और जब आत्मभाव होता है तब मन का भाव नहीं रहता। वस्तु स्वरूप होने से आत्मा की सामान्यता का अभाव नहीं होता, भ्रान्ति स्वरूप होने से मन का अभाव हो जाता है। मन के भाव में आत्मा कहीं चला नहीं जाता परन्तु अज्ञान से उसका भान नहीं होता। दोनों विरुद्ध होने से एक दूसरे का नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि सूर्य का अंधेरा है तो जैसे वह महामूर्ख है ऐसे ही आत्मा का मन बताने वाला महामूर्ख है। आत्म शब्द कहता हुआ अज्ञान को आत्मा कहे तो ऐसे (अज्ञान) का मन हो सकता है वास्तविक तो मन आत्मा का नहीं है, ऐसे ही मन का आत्मा भी नहीं है, इन दोनों में सम्बन्ध सम्बन्धी भाव ही अयुक्त है। उनका सम्बन्ध समझना महा भूल है, यह ही भूल संसार चक्र में घूमने का हेतु है इसलिये तू निश्चय कर कि तू मन नहीं है और मन तेरा भी नहीं है, तू

आत्म स्वरूप है, तुझमें मन का अवकाश ही नहीं है क्योंकि मन भ्रम स्वरूप है और तू चैतन्य स्वरूप है ऐसा विचार करके जब तू मन से बांधे हुए भ्रान्तिक सम्बन्ध को छोड़ देगा तब मन तेरा कुछ भी अहित न कर सकेगा। तू जो मन को 'मैं' और 'मेरा' कहता है इस अहंता और ममता से बलिष्ट होकर मन तेरा अहित करता रहता है। जैसे दूध पिलाने से सर्प बलिष्ट हो जाता है और उसके पिये हुए दूध में विष रूप बल होता है, फिर वह सर्प दूध पिलाने वाले को ही काटता है ऐसे मन तुझे दुःख देता है। झूंठ मूंठ के माने हुए सम्बन्ध को तोड़ दे। जो लोग ऐसा कहते हैं कि मन हमारे वश का नहीं है वे मन को यथार्थ रीति से जानते नहीं हैं। तुम अपना ही भाव देकर उसे बलिष्ट करते हो और उससे परास्त हो जाते हो। मन के दाव पेच जो सूक्ष्मता से जान लेता है, वह क्रम क्रम से आत्मा को जान सकता है। जो मन रूप गड्ढे में डूब जाता है, उसको संसार समुद्र से पार होना असम्भव है।

दोहाः—मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
नहिं माने तो देखले, होवे तभी प्रतीत॥

विज्ञानमय कोश ।

विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर का अंतिम कोश है। यह कोश विशेष ज्ञान का हेतु है इसीसे उसका नाम विज्ञानमय कोश है। विशेष ज्ञान बुद्धि से होता है इसलिये विज्ञानमय कोश बुद्धि का है। मन और बुद्धि दोनों के कोश सूक्ष्म हैं। ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध दोनों में है किन्तु वृत्तियों का अंतर है। जिस प्रकार मनोमय कोश में मन और ज्ञानेन्द्रियां हैं उसी प्रकार विज्ञानमय कोश में बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियां हैं। जब ज्ञानेन्द्रियों का मन से संबंध होता है तब मनोमय कोश और जब बुद्धि से संबंध होता है तब विज्ञानमय कहलाता है। जो इन्द्रियां मनोमय कोश में हैं वे ही विज्ञानमय कोश में हैं इसलिये मनोमय कोश ही सूक्ष्म बुद्धि वृत्ति वाला होने से विज्ञानमय कोश है। मनोमय से विज्ञानमय सूक्ष्म है। संसार की सब रचना विज्ञानमय कोश से आरम्भ और संबंध वाली होकर क्रम से स्थूल होती हुई मनोमय प्राणमय और अन्नमय कोश में आती है। मनोमय और विज्ञानमय अंतःकरण रूप हैं। अंतःकरण सतोगुण का कार्य होने से निर्मल है इसलिये उसमें प्राणमय और अन्नमय कोश से चैतन्य का आभास विशेष पड़ता है। जैसे मनोमय कोश में आत्मा का सत् आभास बताया है इसी प्रकार विज्ञानमय में आत्मा का चित् आभास है, उसको चिदाभास कहते हैं। सामान्यता से जीव भी इसी को कहते हैं। जीव की पृथक्ता का आरम्भ विज्ञानमय कोश से है। अंतःकरण में चित्त और अहंकार की

वृत्तियां जो कही हैं उनका समावेश भी बुद्धि के साथ है इसलिये वे वृत्तियां भी विज्ञानमय कोश से भिन्न नहीं हैं। यद्यपि चिदाभास को जीव कहते हैं तो भी जीव की कारण रूपता चिदाभास से सूक्ष्म में है किन्तु कारण रूप में जीव की पृथकूता मालूम नहीं होती इसलिये चिदाभास को ही जीव कहा है। कारण में चित्त और अहंकार की कारण रूपता अप्रत्यक्ष होती है और विज्ञानमय में मालूम होती है इसलिये उसे उसी में समझना चाहिये।

माया कारण और कार्य रूप दो प्रकार की है। आनन्दमय कोश की माया कारण रूप है और विज्ञानमय से लेकर सब कोशों की माया कार्य रूप है। कोई कोई कारण माया को अज्ञान और कार्य माया को अविद्या कहते हैं। इस अज्ञान का आरम्भ विज्ञानमय कोश से होता है। "शरीर, इन्द्रियादिक में ज्ञान और क्रिया करने वाला मैं हूं" ऐसे वारंवार अभिमान करने वाला जीव भाव है और पूर्व कर्मों की वासना के अनुसार पुण्य, पाप करने वाला और उसका फल रूप अनेक योनियों को धारण करके फल भोगने वाला यह ही विज्ञानमय कोश है इस कोश की जाग्रत और स्वप्नावस्था है और सुख दुःखादिक भी इसी को होता है।

आत्मा के समीप होने से विज्ञानमय कोश प्रकाश वाला है। यद्यपि इससे प्रथम का कोश आनन्दमय है परंतु वह कारण माया का होने से पृथक् भाव रहित है। पृथकूता में विज्ञानमय

कोश की ही आत्मा से समीपता है। आश्रम, धर्म, कर्म, गुण, शरीर, ऐश्वर्य आदिक के अभिमान वाला वही है और उसे ही भ्रम बुद्धि के कारण वारंवार संसार प्राप्त होता है।

यद्यपि विज्ञानमय कोश जड़ है तो भी आत्मा के मेल से वह विशेष चैतन्य के समान होता है। उसमें रहने वाला आत्मा जब उसके कर्ता भोक्ता भाव के विकारों को अपने में मानता है तब वह उपाधि रूप हो जाता है। लौकिक जितने शास्त्र हैं उन सब की दृष्टि विज्ञानमय कोश से आगे नहीं है। जगत् के ऊंचे से ऊंचे तत्त्व ज्ञान की समाप्ति उसमें हो जाती है। आत्म बोधक शास्त्रों की वाणी भी यद्यपि उससे संबंध वाली है तो भी वह युक्ति पूर्वक बुद्धि से परे के तत्त्व का बोध कराती है। एक आत्म तत्त्व ज्ञान ही ऐसा है, जिसका आरम्भ विज्ञानमय कोश से होकर परब्रह्म तक जाता है। विज्ञान से समझते हुए, विज्ञान को छोड़ कर अपने को जानना शास्त्र की एक महा युक्ति है।

विज्ञानमय आनन्दमय का कार्य होने से आनन्दमय की पृथक् अवस्था में ढक जाता है और इसी प्रकार विज्ञानमय की पृथक् अवस्था में मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश ढक जाते हैं। बुद्धि विकार वाली होने से विज्ञानमय कोश भी विकार वाला है।

एक बार शृंगी ऋषि एकांत वन में एक पर्वत के नीचे तपश्चर्या कर रहे थे। पेड़ों में से रिसते हुए रस को जिह्वा से चाट लेते थे, इसके सिवाय और कुछ भोजन नहीं करते थे। बहुत

काल तपश्चर्या में व्यतीत होने से, स्वादादिक विषय सेवन न करने से विषयों का ज्ञान और स्मृति नष्ट समान हो गई थी। पशु, पक्षी, मनुष्यादिक का संग वहां नहीं था इसलिये स्त्री पुरुष का भेद भी उनकी स्मृति में नहीं रहा था। परमात्मा परायण होकर वे अपनी आयु व्यतीत कर रहे थे। उन्हें अपने शरीर की प्रतीति थी तो भी उनका आचार विदेह मुक्त के समान हो गया था। उनके समान त्यागी और तपस्वी उस समय और कोई नहीं था। उसी समय अयुध्यापुरीमें महा पराक्रमी और धर्मात्मा राजा दशरथ राज्य करते थे। वृद्धावस्था होने पर भी उनके पुत्र न होने से उनके गुरु वशिष्ठजी ने पुत्र प्राप्ति के निमित्त पुत्रेष्ठि यज्ञ करने की सम्मति राजा को दी और कहा कि पुत्रेष्ठि यज्ञ की समाप्ति तब सफल हो सकती है कि जब शृंगी ऋषि यज्ञ में आकर यज्ञ करावें। यह बात असंभवित सी थी इसलिये राजा दशरथ ने राज सभा में यह प्रतिज्ञा की कि जो कोई शृंगी ऋषि को ले आवेगा उसको मैं सुवर्ण रत्नादिक का बहुत बड़ा पारितोषक दूंगा। शृंगी ऋषि की तपश्चर्या और विदेह के समान आचार समझ कर उन्हें राजसभा में लाने को किसी की हिम्मत न पड़ी। उनके तप का प्रभाव जानकर और शाप के भय से कोई भी उन्हें लाने को तैयार नहीं हुआ एक वेश्या जो सब बातों में कुशल थी, उन्हें राज सभा में लाने की प्रतिज्ञा करके उनके स्थान की तरफ चली और स्थान के समीप पहुंच कर सब सामान और मनुष्यों को छोड़ कर अकेली ऋषि के आश्रम के समीप पहुंच कर उनके आचार को देखने लगी। उनका आचार देख कर वह भी चक-

राई परन्तु उसने हिम्मत न हारी। तीन दिन तक प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल को मुकाम से आकर उनकी चेष्टा देखती रहती। तीन दिन देखने से उसे मालूम हो गया कि ऋषि एक पेड़ से टपके हुए रस को दिन में एक वार जिह्वा से चाट लेते हैं। उस पेड़ को उसने पहचान लिया। चौथे दिन वेश्या रस के स्थान पर पेड़में शहद लगा आई और एक पेड़के नीचे छुपकर ऋषि की चेष्टा देखने लगी। प्रति दिन ऋषि एक वार रस चाटा करते थे आज उन्होंने दो तीन वार चाटा यह देख कर वेश्या जी में प्रसन्न हुई, दूसरे दिन उस पेड़ पर वहुत सा शहद लगा आई और छुपकर देखती रही। उस दिन ऋषि एक घन्टे तक पेड़ के चारों तरफ से शहद चाटते रहे। तीसरे दिन वेश्या ने पेड़ पर वहुत सा शहद लगा दिया और पेड़ के नीचे मेवा और घी पड़ा हुआ स्वादिष्ट हलुआ वना कर रख दिया। जव ऋषि रस चाटने आये तो सामने कोई वस्तु रक्खी हुई देख कर उसे उठा कर खाने लगे तो वहुत ही प्रिय मालूम हुई। उस दिन रस चाटना छोड़ कर वे अपने आसन पर जा वैठे। धीरे २ ऋषि को अपने वश आते हुए देख कर वेश्या जी में अपने कार्य की प्रशंसा करने लगी। कभी हलुआ, कभी खीर, कभी जलेवी, कभी अमृति, कभी वालूशाही इत्यादि प्रतिदिन पेड़ के नीचे धर आती और ऋषि उन्हें प्रेम से खा लेते। नित्य प्रति मिष्टान्न भोजन करने से ऋषि के शरीर में वल आने लगा, इन्द्रियां सतेज होने लगीं और स्मृति और बुद्धि भी तीव्र होने लगी।

एक दिन वेश्या ने कोई वस्तु पेड़ के नीचे न रक्खी। जब समय पर शृंगी ऋषि आ कर भोजन की वस्तु ढूंढ़ने लगे तब वेश्या निर्भय हो कर एक थाल में उत्तम मिष्टान्न ले कर उनके पास पहुँची और उसने उनके सामने रख दिया। ऋषि भोजन करने लगे, वेश्या खड़ी देखती रही। ऋषि ने उसे देख कर क्रोध भी न किया। अब तो प्रतिदिन ऐसा ही होने लगा। वेश्या ऋषि के पेड़ के नीचे आ जाया करे और भोजन ला कर खिला जाया करे।

एक दिन ऋषि पेड़ के नीचे आकर देर तक बैठे रहे परन्तु वेश्या भोजन न लाई तब तो वे घबराकर कहने लगे "हे देव! भोजन ला! भोजन ला!" छिपी हुई वेश्या भोजन ले कर आई और थाल रखकर प्रार्थना करने लगी "महाराज! क्षमा कीजिये! ऋषिराज! आज भोजन बनाने में देर हो गई!" ऋषि कुछ न बोले। कुछ दिनों तक इस प्रकार होता रहा। जब ऋषि भोजन मांगते तब वेश्या लाकर देती।

एक दिन जब ऋषि ने भोजन मांगा तब वेश्या ने सूखे टिक्कड़ लाकर सामने रख दिये। ऋषि खाने लगे, वेश्या खड़ी देखती रही। ऋषि उस दिन भोजन करके कुछ प्रसन्न न हुए तब वेश्या हाथ जोड़कर कहने लगी "महाराज! आज का भोजन स्वादिष्ट नहीं है। आज भोजन का सामान नहीं था। मनुष्य शहर से सामान लेकर नहीं आया है।" ऋषि कुछ न बोले। दूसरे दिन वेश्या ने फिर टिक्कड़ रख दिये ऋषि टिक्कड़

देखकर कहने लगे "हे देव ! ऐसा भोजन नहीं। प्रथम जैसा भोजन लाता था वैसा ला।" वेश्या प्रसन्न होकर जी में कहने लगी "ऋषि को भले बुरे का ज्ञान हो गया है। उत्तम भोजन खाने की कामना हो गई है।" हाथ जोड़कर कहने लगी "सायं-काल को प्रथम के समान भोजन लेकर इस स्थान पर आऊंगी और आपको पुकार लूंगी।" ऋषि ने वेश्या की बात मानकर वे मन से टिक्कड़ खा लिये। सायंकाल को वेश्या अनेक प्रकार के मिष्ठान्न बना कर ले आई और कहने लगी "ऋषि जी ! मैं भोजन ले आई हूँ, आइये ! आप भोजन कीजिये।" शब्द सुनते ही ऋषि अपने स्थान से उठकर आ गये और भोजन करने लगे। इस प्रकार वेश्या ऋषि को दोनों समय भोजन कराने लगी।

एक दिन सायंकाल में जब ऋषि भोजन कर रहे थे वेश्या कहने लगी "महाराज ! मैं अकेली वन में पड़ी रहती हूँ, कल रात्रि को सिंह का शब्द सुनकर मैं डर गई, वह मुझे खाने को आया था किन्तु मैं बच गई। यदि वह मुझे खा जाता तो आपको भोजन कौन कराता ? ऋषि ने कहा "तू मेरे पास रात्रि को रहा कर।" उस दिन से वेश्या ऋषि के पास रहने लगी। क्रम क्रम से स्त्री पुरुष के भेद का ज्ञान भी उसने ऋषि को करा दिया और इस प्रकार उनको छल लिया।

वह ऋषि की स्त्री होकर रहने लगी और रहते रहते उसके तीन लड़के उत्पन्न हुए। प्रथम लड़का पांच वर्ष का, दूसरा तीन वर्ष का और तीसरा एक वर्ष का था। एक दिन वेश्या ने क०

"स्वामिन् ! हम कुटुम्ब वाले हैं। सब का पोषण इस वन में नहीं हो सकता ! जो कुछ मेरे पास था सब खर्च हो गया। यदि किसी राजा का आश्रय लिया जाय तो आनन्द से निर्वाह चले।" ऋषि ने कहा "फिर क्या करना चाहिये ? कहां जाना चाहिये ?" वेश्या ने कहा "थोड़ी दूर पर दशरथ राजा का राज्य है, वह राजा धर्मात्मा है। तपस्वियों को बहुत मानता है, यदि हम उसके दरबार में चले जांय तो वह हमारी जीविका बांध देगा।"

ऋषि ने राजा के पास जाना स्वीकार कर लिया, दोनों छोटे लड़कों को कंधे पर बैठाया और बड़े लड़के का हाथ पकड़ कर आगे आगे ऋषि और पीछे पीछे वेश्या इस स्वांग से ऋषि दशरथ राजा की सभा में पहुंचे। 'वेश्या शृंगी ऋषि को लेकर आ रही है' ऐसा सुन कर सब सभाजन और शहर के लोग देखने दौड़े। लोग वेश्या की चतुराई से प्रसन्न होते थे और ऋषि की दुर्दशा देखकर दुखी होते थे और हंसते भी थे। कोई पूछता था "आप ही शृंगी ऋषि हैं ?" कोई कहता था "आपने बड़ी कृपा करके हमें दर्शन देकर कृतार्थ किया।" ऐसे अनेक प्रकार के व्यंग वचन लोग बोलते थे।

राजा दशरथ ने शृंगी के कुटुम्ब को अथवा वेश्या के कुटुम्ब को आदर सहित दिव्य स्थान में ठहराया। राजा की अभिलाषा से शृंगी ऋषि ने पुत्रेष्टि यज्ञ का आरम्भ करके यथा विधि क्रिया से समाप्त कराया। पूर्णाहुति के भोजन में दूर दूर देश से बहुत से पंडित और ऋषि लोग आये थे। राजा दशरथ ने विचार

किया "मेरा कार्य पूर्ण होने पर भी श्रृंगी ऋषि का प्रपंच में फंसा रहना ठीक नहीं है।" यह विचार श्रृंगी ऋषि और उनके कुटुम्ब को सब ऋषियों के साथ भोजन करने को बैठाया। यह देखकर एक त्यागी साधु बोल उठा "अरे राजा। यह क्या अनर्थ करता है? हम लोगों के बीच में जोरू बच्चों वाले का क्या काम है?" राजा ने कहा "महाराज। यह श्रृंगी ऋषि और उनका कुटुम्ब है।" त्यागी आश्चर्य युक्त होकर कहने लगा "क्या। श्रृंगी ऋषि का कुटुम्ब है? हमने तो सुना है कि वे पूर्ण ज्ञानी और त्यागी हैं? क्या श्रृंगी ऋषि भ्रष्ट हो गये? हाय माया! हाय नटनी! हाय वेश्या! तू ने ऋषि को भी अपने जाल में फंसा लिया। श्रृंगी में यदि अब भी कोई आत्म श्रृंग शेष रहा हो तो उस जाल को काट कर भाग सकते हैं!" यह सुनते ही श्रृंगी ऋषि के कान खड़े हुए और उन्हें पूर्व की स्मृति आई। जैसे कोई नींद से चोंक पड़ता है इस प्रकार अपने कर्तव्य को विचार कर दुखी हो पछताने लगे और बड़े भारी उत्साह के साथ उठ खड़े हुए और भाग कर वन में किसी गुप्त स्थान में चले गये। राजा दशरथ ने अपनी प्रतिज्ञानुसार वेश्या को सन्मान सहित बहुत बड़ा पारितोषिक दिया और ऋषि से उत्पन्न हुए तीनों बालकों को पालन पोषण करने और विद्याध्ययन के लिये एक पंडित को सोंप दिया।

सिद्धान्तः—ऋषि आत्म स्वरूप है, एकान्त में रहने वाला और असंग है। वेश्या बुद्धि है, दशरथ रूपी देही राजा अपुत्र

है। उसने जब पुत्रेच्छा की तब माया विशिष्ट चैतन्य रूप वसिष्ठ ने पुत्रेष्टि यज्ञ करने का उपदेश दिया। जब तक आत्मा अपने भाव से हट कर बुद्धि के भाव वाला न हो तब तक पुत्रेष्टि यज्ञ की सिद्धि नहीं होती इसलिये बुद्धि रूप वेश्या ने आत्मा रूपी ऋषि के पास जाकर क्रम २ से उसे अपने भाव वाला बनाती है। बुद्धि वेश्या इसलिये है कि उसका भाव एक पर नहीं रहता अनेकों की तरफ़ भाव करने वाली है। बुद्धि विज्ञानमय कोश है। स्त्री पुरुषों को वस्तुओं का और राग द्वेष का ज्ञान है अथवा नहीं है यह बुद्धि के सहारे जाना जाता है। जिसमें यह ज्ञान नहीं है वह आनन्दमय कोश है। वह बुद्धि का अभाव रूप होने से बुद्धि से बाहर नहीं है। बुद्धि में जब आत्मशृंग-आभास आता है तब आनन्दमय और विज्ञानमय कोशों को सिद्ध करता है और ऋषि रूप आत्मा बुद्धि अनुरक्त हो कर उसे अपना मानने लगता है, इस भूल से संसृति चलती है जो तीन पुत्रों के रूप से प्रगट होती है। वे तीनों पुत्र मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश रूप हैं। जब कोई त्यागी रूप सद्गुरु मार्मिक वचन रूप उपदेश देता है तब आत्मा रूप ऋषि अपनी भूल को जान जाता है और लज्जित हो कर सब प्रपंच को छोड़ अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त होता है। आत्मा जिस बुद्धि में अनुरक्त है ऐसी बुद्धि आत्माभास से कर्ता भोक्ता है अथवा बुद्धि से न मिलने वाला होकर भी मिला हुआ मानने वाला आत्मा भूल से कर्ता भोक्ता बन बैठता है। वह ही विज्ञानमय कोश कहलाता है।

विज्ञानमय कोश से बंधन-संसार है इसलिये इस कोश की निवृत्ति होना मोक्ष है। आनन्दमय कोश की पृथक् सत्ता नहीं है। विज्ञानमय से उसकी सिद्धि होती है और जब विज्ञानमय का समूल नाश हो जाता है तब उसका भी नाश हो जाता है और आत्म प्राप्ति होती है।

जैसे शृंगी ऋषि वेश्या से भिन्न थे वैसे ही आत्मा विज्ञानमय से भिन्न है। आत्मा स्वयं कर्ता भोक्ता नहीं है। आत्मा के जो लक्षण शास्त्र में बताये हैं और सद्गुरुओं से सुने जाते हैं वे इस प्रकार हैं:—आत्मा असंग, अक्रिय, अविनाशी, अविकारी, अव्यक्त, अनादि, सत्य, चित् आनन्द स्वरूप, निर्लेप विभु है। वह किसी का कर्ता अथवा कारण नहीं है मात्र द्रष्टा है। बुद्धि संग वाली होने से असंग नहीं है। बुद्धि चैतन्य की सत्ता से भिन्न २ कार्य करती है इसलिये क्रिया वाली है, अक्रिय नहीं है; अनेक भाव वाली होने से विकारी है बदला करती है; मर्यादा में होने से व्यक्त है, अव्यक्त नहीं है; अनादि अविद्या की होने से उत्पत्ति वाली है इसलिये अनादि नहीं है; परिणाम और नाश वाली होने से, विकार भाव में रहने वाली होने से अविचल सत्यस्वरूप नहीं है; पर प्रकाश से प्रकाशित होने वाली होने से चित् नहीं है, किन्तु माया की होने से जड़ है; परिच्छिन्न होने से अखंड आनन्द स्वरूप नहीं है, ज्ञान गुण वाली होने से ज्ञान स्वरूप नहीं है; सतोगुण में ज्ञान से, रजोगुण में क्रिया से और तमोगुण में उसका जड़ता से सम्बन्ध है इसलिये विकारी है

निर्लेप नहीं है; परिच्छिन्न होने से विभु नहीं है; अज्ञान का कार्य है और मन, प्राण, शरीर आदि का कारण है इसलिये वह कार्य कारण से रहित नहीं है; जानी जाती है इसलिये द्रष्टा नहीं है। इस प्रकार आत्मा का एक भी लक्षण उसमें नहीं मिलता, सब लक्षण विपरीत हैं, तब वह आत्मा किस प्रकार हो" बुद्धि आदिक में आत्मभाव करना-मानना ही अज्ञान है इसलिये तू यह निश्चय कर कि ऊपर बताया हुआ विज्ञानमय कोश तू-आत्मा नहीं है।

शिष्य:—(सोचकर) बुद्धि जानने में आती है, आत्मा जानने में नहीं आता, जो आपके उपदेश के अनुसार बुद्धि को आत्मा न समझूं, उसे छोड़ दूं तो मैं ही नहीं रहता। यदि मैं पृथक् भाव से दीखता होता-समझ में आता होता तो बुद्धि को भिन्न समझता परन्तु ऐसा नहीं होता इसलिये आपका यह उपदेश इस प्रकार हुआ:-एक रोगी अपने रोग की निवृत्ति के लिये एक वैद्य के पास गया। रोगी रोग निवृत्त करना चाहता था शरीर की निवृत्ति करना नहीं चाहता था। वैद्य ने कहा "शरीर की निवृत्ति के साथ ही रोग की निवृत्ति होगी" ऐसे कहने वाले वैद्य से कोई भी समझदार मनुष्य अपने रोग की औषधि नहीं करावेगा। मैं बुद्धि ही हूं क्योंकि इसके सिवाय मैं और कुछ नहीं देखता। जब बुद्धि को छोड़ दूंगा तो मैं ही न रहूँगा फिर बुद्धि छोड़ने का फल किसको होगा ?

संतः—मेरे वचनों को पूर्ण समझे विना तू अपने ही भाव को प्रगट कर रहा है, जो मैं पूछूं उसका उत्तर दे, रोग कहां था और रोगी कौन था ?

शिष्यः—रोग पेट में था और रोगी मनुष्य था।

संतः—यह तेरा कहना विरुद्ध माॡम देता है ! जब पेट में रोग था, तप पेट रोगी हुआ। मनुष्य कैसे रोगी हुआ।

शिष्यः—पेट मनुष्य का था इसलिये मनुष्य रोगी हुआ।

संतः—इसका अर्थ तो यह हुआ कि जब तेरा घोड़ा बीमार होवे तव तू अपने को बीमार माने।

शिष्यः—नहीं !

संतः—क्यों ?

शिष्यः—घोड़ा भिन्न है। मैं भिन्न हूँ ! घोड़ा ही बीमार कहा जायगा, मैं बीमार नहीं कहलाऊंगा। मैं और मेरा पेट एक ही है इसलिये पेट में बीमारी होने से मैं बीमार कहलाऊंगा।

संतः—जव तू और पेट एक ही है तब 'मेरे पेट में दुःख है' ऐसे क्यों कहता है ?

शिष्यः—ऐसा कहने का तो अभ्यास पड़ गया है।

सन्तः—तब तू 'पेट मैं हूँ' 'पेट मैं हूँ' ऐसा दो चार वार पुकार कर सुना दे।

शिष्यः—ऐसा कहने से तो लोग मुझे पागल कहेंगे।

सन्त—सत्य है, पागल ही इस प्रकार कहते हैं। वे कहते हैं और तू मानता है तो क्या तू पागल न हुआ।

शिष्यः—तब क्या मैं पेट नहीं हूँ ?

संतः—नहीं, तू पेट नहीं है, तू अपनी और पेट की एकता करके कहता है, यही तेरा कहना पागल पन–अज्ञान है। जैसे अज्ञान की अवस्था में तू अपने को पेट से पृथक् नहीं समझता ऐसे ही बुद्धि को भी पृथक् नहीं समझता। पेट के असाध्य रोग की निवृत्ति पेट के न रहने पर ही होती है, तब वैद्य ने क्या बुरा कहा था ? आत्मा भिन्न है, दर्द वाला पेट भिन्न है, पेट न रहने से आत्मा न रहेगा यह न समझना चाहिये। जब कोई रोगी किसी महान् व्याधि में बहुत समय तक पीड़ा भोगता रहता है और व्याधि निवृत्त न होगी ऐसे निश्चय पर आ जाता है, तब अति दुःख से स्वयं अपनी हत्या कर लेता है। अब विचार कर उसने शरीर क्यों त्यागा ? शरीर रहने से आत्मा को दुःख होता है, शरीर जो रोगी है यदि न रहे तो आत्मा को दुःख न हो ऐसा विचार कर ही वह शरीर की हत्या करता है। बुद्धि और आत्मा के सूक्ष्म अंतर को अज्ञान के कारण तू समझ नहीं सकता, इसलिये मेरे कहे अनुसार अपना लक्ष पहुंचाता जा। आत्मा न दीखे तो न सही, मेरे कहे अनुसार आत्म भावना का निश्चय कर। मनना-दिक जो कहा जाय करता जा, अभ्यास के बाद तुझे स्वयं आत्मा की प्रतीति होने लगेगी। बुद्धि भाव से होने वाले दुःख बुद्धि भाव की निवृत्ति विना निवृत्त न होंगे। सुषुप्ति में बुद्धि नहीं दीखती, उस समय 'मैं नहीं था' ऐसा तू कब मानता है। बुद्धि दृश्य है, आत्मा द्रष्टा है तब बुद्धि आत्मा कैसे हो ? बुद्धि भ्रान्तिमय है आत्मा

सत्य है, यदि उसे तू प्रत्यक्ष रूप से न जाने तो भी उसकी अस्तित्वता को तू मिटा नहीं सकता। बुद्धि भेद भाव में है, नाम, रूप के भेद को ग्रहण करती है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उसके ज्ञान को बुद्धि भेद में बांट देती है। भेद रहित एक रस ज्ञान आत्मा है। इस सूक्ष्म लक्ष से आत्मा और बुद्धि का भेद समझ कर आत्मा को ही 'मैं' मान।

जैसे बुद्धि तू नहीं है ऐसे ही बुद्धि तेरी भी नहीं है। आभास रूप आत्मा बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर उसे अपनी मानता है। शुद्धात्मा में मेरा तेरा नहीं है तब बुद्धि उसकी किस प्रकार हो? आभास अज्ञान में पड़ा हुआ होने से आभास का मानना जो भ्रान्ति का है वह ही संसार है। यदि तुझे परम पद की इच्छा हो तो इस प्रकार मत मान। संसारी बुद्धि से आत्मा को भिन्न मानना नहीं हो सकता क्योंकि संसार ही बुद्धि का व्यापार है, संसार में टिक कर आत्मा को बुद्धि से भिन्न नहीं जान सकते। आत्मभान रहित जिसकी बुद्धि आत्मा बनी है ऐसा पुरुष तेरे समान यह ही कहेगा कि बुद्धि को छोड़ दूं तो मैं ही न रहूंगा। मेरे कहे अनुसार संसारी भाव की बुद्धि को दूर करके आत्म भाव वाली बुद्धि बना, उस बुद्धि द्वारा संसारी बुद्धि को निःशेष काट दे, तब आत्म भाव वाली बुद्धि से आत्मा पृथक् मालूम होगा। पश्चात् जिस कार्य के निमित्त आत्म भाव वाली बुद्धि बनाई थी उस कार्य के समाप्त होने पर और आत्मा में संसरना रूप बुद्धि का कार्य न रहने से आत्मा का साक्षात्कार हो जायगा। जो बात

अपनी बुद्धि से समझ में न आवे वह बात झूठी है ऐसा नहीं कह सकते। जब क्रम क्रम से बुद्धि समझने योग्य हो जाती है तब प्रथम जो बात समझ में नहीं आती थी, आ जाती है। अभी तेरा अंतःकरण पूर्ण शुद्ध नहीं है, उसे शुद्ध करने के लिये श्रद्धा सहित श्रवण और सत्संग करना चाहिये।

तूने जो प्रथम कहा था कि मैं नहीं रहूंगा, यह तेरा कहना ठीक है। जिस बुद्धिवाला तू बन बैठा है उस बुद्धिवाला अवश्य नहीं रहेगा। आत्मा बनता नहीं है इसलिये बिगड़ता भी नहीं है। आत्मा प्रथम नहीं था, अब आया है और पीछे चला जायगा ऐसा नहीं है। आत्मा का लक्ष आत्म भाव की बुद्धि से करना चाहिये, उसमें भी बुद्धि के अंश को बाध करके लक्ष करना चाहिये। जैसे एक कटोरे में पानी भरा हुआ है, यदि उस पानीको निकाल दें तो क्या रहा? तू कहेगा कि कुछ भी न रहा क्योंकि तू पानी को ही समझ रहा है। पानी तो न रहा परन्तु पानी जिस अधिष्ठान रूप कटोरे में था वह कटोरा तो कहीं नहीं गया। जब पानी था और जब निकाल दिया गया उन दोनों अवस्थाओंमें कटोरा ज्योंका त्यों रहा-विकार को प्राप्त न हुआ। इसी प्रकार जल को बुद्धि और आत्मा को कटोरा समझ। जल कटोरा नहीं है और कटोरे का भी नहीं है और जल सहित कटोरा जल की उपाधि वाला कहा जाता है। जिस प्रकार कटोरेमें अपना अहंभाव और जलका ममत्व नहीं है इसी प्रकार आत्मा में अहंभाव नहीं है।

और भी देख, जब तू कटोरे के जल को देखता है तब तुझे कटोरे का भान नहीं होता और जब कटोरे को देखता है तब जल

का भान नहीं होता। जो तू कहे कि मैं एक ही समय जल और कटोरा दोनों देखता हूँ तो यह युक्त नहीं है क्योंकि एक क्षण में एक ही वस्तु देखी-जानी जाती है, ऐसे ही जब तक बुद्धि का भाव हटा कर न देखे तब तक आत्मा तेरी समझ में नहीं आवेगा। आत्मा त्रिकाल अबाधित, असंग है, असंग होते हुए भी भ्रांति के संग दोष से बुद्धि के सत्वादिक गुणों से विषयात्मक भाव को प्राप्त होता है परंतु जब बुद्धि का बाध किया जाता है तब असंग प्रतीत होता है सब स्थावर जंगम बुद्धिमय हैं जब बुद्धि का लय होता है तब प्रपंच का लय हो जाता है और जब बुद्धि प्रगट होती है तब सब प्रपंच प्रगट होता है इसलिये ही जगत् बुद्धिमय कहा है। विषयाकार बुद्धि जगत् और बंधन है और बुद्धि का आत्म भाव में लय हो जाना मोक्ष है। इसलिये तू विज्ञान-मय कोश नहीं है और वह तेरा-आत्मा का भी नहीं है।

कारण शरीर ।

स्थूल और सूक्ष्म शरीर के पीछे सबसे अन्तिम कारण शरीर है। यह अव्यक्त भाव वाली माया का है। स्थूल शरीर हर एक का भिन्न २ है, सूक्ष्म शरीर भी वासना का होने से भिन्न २ मालूम होता है किंतु कारण शरीर अति सूक्ष्म होने से भिन्न मालूम नहीं होता। स्थूल शरीर जगत् का है, सूक्ष्म शरीर संस्कार-वासना स्वरूप है और कारण शरीर अति सूक्ष्म कारण माया का है। तीनों गुणों की साम्यावस्था वाली जो माया है, जिसमें गुणों का पृथक् भेद प्रतीत नहीं होता, उसका कारण शरीर है इसलिये उसमें भी पृथक्ता नहीं दीखती। कारण शरीर की माया माया का स्वरूप ही है इसलिये कारण शरीर में सबको एक ही समान अनुभव होता है। एक अव्यक्त माया सब का कारण है इसलिये सब शरीरधारी जब माया के कारण भाव में जाते हैं तब एक हो जाते हैं।

कारण शरीर तमोगुण की विशेषता वाला कहा जाता है। तमोगुण अन्धकारमय है, उसमें अन्धकार विशेष है इसलिये उसमें पृथक् भाव होते हुए भी, अन्धेरा ही दीखता है। विशेष अन्धेरा होने से रजोगुण की क्रिया और सतोगुण का प्रकाश दोनों इतने दब जाते हैं कि वे मालूम नहीं होते। जहां तीनों गुणों की भिन्नता मालूम न हो उसे साम्यावस्था कहते हैं। जैसे उंजाले में बैठा हुआ एक मनुष्य जब वहां से उठ कर अन्धेरे में जाता है तो उसे थोड़ी देर तक कुछ दिखाई नहीं देता किंतु थोड़ी देर

पीछे उसे अन्धेरे में भी कुछ २ दीखने लगता है और वहां उसकी क्रिया भी होती है। उजाले से अंधेरे में जाने की हालत कारण शरीर के समान है। कारण शरीर अंधकार वाला एक ही प्रकार का होने पर भी अनेक प्रकार के भावों के बीज सहित है। वह ही बीज वासना रूप और स्थूल रूप होता है। जैसे घास-फूंस के बीज जब मट्टी में मिल जाते हैं तब मट्टी से पृथक् मालूम नहीं होते परंतु जब वर्षा होती है तब उग आते हैं और पृथक्ता से जाने जाते हैं। इसी प्रकार कारण शरीर में रहने वाली द्वैतता दबी रहती है। यदि वह एक हो जाती तो फिर प्रथम के स्थूल शरीर में नहीं आती। जो जिस दबाव में दबा होता है वह उस दबाव के चले जाने पर ही उसमें से निकलता है इसलिये कारण शरीर वासना के बीज से रहित नहीं होता।

जिस प्रकार बहुत सूक्ष्म वट के बीज में वट का वृक्ष रहता है किंतु दिखाई नहीं देता इसी प्रकार कारण शरीर में सूक्ष्म और स्थूल शरीर रहते हुए भी दिखाई नहीं देते। जब वे चेष्टा करते हैं तब कारण शरीर सहित ही करते हैं किंतु उन दोनों के भाव रूप में होने पर कारण शरीर पृथक् नहीं समझा जाता। उसको पृथक् समझने के लिये सुषुप्ति अवस्था है। उसमें द्वैतता का दर्शन नहीं है इसलिये वह आत्मा के अत्यन्त समीप कहा जाता है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का कारण कारण शरीर है। जैसे हर एक वस्तु कारण में से कार्य में आती है और कारण कार्य से पृथक् नहीं रह सकता इसी प्रकार स्थूल और सूक्ष्म की बिना कारण

स्थिति नहीं है। कारण भिन्न हो और सूक्ष्म भिन्न हो ऐसा नहीं है, कारण शरीर सूक्ष्म शरीर का ही सूक्ष्म अंश है इसलिये कार्य रूप सूक्ष्म का समूल नाश होने के पश्चात् कारण का नाश करना अवशेष नहीं रहता, सूक्ष्म के समूल नाश होने से ही कारण का नाश हो जाता है। कारण अप्रत्यक्ष और द्वैत भाव रहित है इसलिये उसका पृथक् नाश नहीं करना पड़ता।

कारण शरीर माया की साम्यावस्था का और कार्य में अनुगत होने से बदलता नहीं है। माया अनादि कल्पित होने से कारण शरीर भी उसका होने से अनादि और माया में अंत रहित है परंतु जब अज्ञान–कल्पना की ज्ञान से निवृत्ति होती है तब कल्पना के दोनों शरीरों की निवृत्ति एक साथ ही हो जाती है और प्रारब्ध के समाप्त होने पर स्थूल शरीर का बाध होकर कैवल्य की प्राप्ति होती है।

सुख दुख, लाभ हानि, मैं तू, हर्ष, शोकादि जितने द्वन्द्व हैं, वे सब द्वैत में होते हैं, जहां द्वैत नहीं है वहां सुख दुःखादिक भी नहीं हैं। कारण शरीर में द्वैत की प्रतीति नहीं होती इसलिये सुख दुःख का अनुभव भी नहीं होता। स्थूल और सूक्ष्म शरीर में मैं और तू आदिक का भेद होता है वहां दुःख होता है कारण शरीर में मैं तू का भेद न होने से वह दुःख रहित है। दुःख रहित होने पर भी वह आत्मा अथवा मोक्ष स्वरूप नहीं है क्योंकि दुःख की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ये दो लक्षण मोक्ष के बताये हैं। कारण शरीर में दुःख की निवृत्ति अवश्य होती है

किंतु वह निवृत्ति क्षणिक है। अज्ञान की गहराई में दुःख मालूम नहीं होता इसलिये 'दुःख नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते। कारण शरीर में दुःख बीज रूप होने से स्वप्न और जाग्रत अवस्था में फिर दुःख मालूम होता है इसलिये दुःख की अत्यन्त निवृत्ति न हुई।

द्वैत का भाव न होने से कारण शरीर में आनन्द भी मालूम होता है किंतु वह आनन्द विषयों का अभाव रूप है और माया में है इसलिये आत्मा का परमानन्द नहीं है। परमानन्द तो अज्ञान की निवृत्ति और आत्मबोध से ही होता है। कारण शरीर में अज्ञान की निवृत्ति और आत्मबोध नहीं है। कारण शरीर और आत्मा में सूक्ष्म अंतर है। सुषुप्ति और समाधि अवस्था समान दीखती हैं क्योंकि दोनों में विषयों का अभाव है तो भी वे दोनों भिन्न भिन्न हैं, दोनों का मार्ग एक दूसरे से विरुद्ध है। सुषुप्ति अज्ञान स्वरूप है और समाधि ज्ञान-आत्म स्वरूप है। एक विद्वान् पुरुष विद्या के प्रभाव से स्थिर बुद्धि वाला है और दूसरा मूढ़ता के कारण स्थिर दीखता है। जैसे मूढ़ में दीखती स्थिरता का हेतु मूढ़ता होने से वह वास्तविक स्थिरता नहीं है इसी प्रकार कारण शरीर में अज्ञान के घन भाव से दीखती हुई अद्वैतता वास्तविक नहीं है।

सहनशीलता एक शुभ गुण कहा जाता है, यह सहनशीलता शुभ गुणों से और लोभादि दुर्गुणों से भी होती हैं। जैसे शुभ गुणों से उत्पन्न हुई सहनशीलता ही वास्तविक सहनशीलता

है और दुर्गुणों के कारण उत्पन्न हुई सहन शीलता यथार्थ नहीं है इसी प्रकार आत्मा और कारण शरीर का भेद है।

जैसे दुकानदार प्रातःकाल होते ही अपनी दुकान खोल कर और माल रख कर बैठता है, यह जीव रूप व्यापारी की स्थूल शरीर रूप जाग्रतावस्था है; और दुकानदार जो माल खरीदता अथवा बेचता है, उसको अपनी वही में लिखता रहता है यह जीव रूप व्यापारी का सूक्ष्म शरीर है क्योंकि वस्तु विना ही वस्तुओं का और दामों का भाव होता है; और जैसे रात होने पर दुकानदार दुकान पर रक्खी हुई वही सहित सब वस्तुओं को समेट कर भीतर रख देता है और दुकान का ताला लगा देता है तब अन्धेरे में सब वस्तुयें होने पर भी, अलग २ भाव से मालूम नहीं होतीं, मात्र एक दुकान ही रह जाती है, यह जीव का कारण शरीर है। फिर सवेरा होते ही दुकान खोली जाती है, दिन भर बिक्री होती है, रात को दुकान बन्द कर दी जाती है इसी प्रकार तीनों शरीर और उनकी अवस्थाओं में बदली हुआ करती है। इस दृष्टांत से समझ में आगया होगा कि कारण शरीर अविभक्त होते हुए भी विभक्तपने से रहित नहीं है।

गाढ़ी निद्रा रूप सुषुप्ति अवस्था कारण शरीर की है जहां जाग्रत और स्वप्न दोनों प्रकार के प्रपंच वस्तुओं का और अपने, पराये का भान नहीं होता, उस समय आत्मा बाहर भीतर का भाव छोड़ कर हृदय में टिकता है इसलिये कारण शरीर का स्थान हृदय है।

जैसे स्थूल शरीर की बाहर आने वाली वाणी वैखरी और सूक्ष्म शरीर की कंठ स्थान वाली मध्यमा है इसी प्रकार कारण शरीर की अबाह्य रूप पश्यन्ती वाणी है। चौथी वाणी जीवन्मुक्तों की है परम होने से उसका नाम परा है। जैसे स्थूल शरीर का स्थूल भोग और सूक्ष्म का सूक्ष्म भोग है इसी प्रकार कारण शरीर का आनन्द भोग है, वहां विषयों के पृथक् भाव की अभाव रूप स्थिति आनन्द है। कारण शरीर की शक्ति द्रव है, जो इसमें से सूक्ष्म और स्थूल शरीर में आती है। चैतन्यता के समीप होने से वह चेतोमुख कहलाता है। तम इसका गुण है। ॐकार का मकार उसकी मात्रा है। उस समय के अप्रत्यक्ष अभिमानी जीव को प्राज्ञ कहते हैं।

जब मैं गुरुदेव के समीप निवास करता था तब मैंने महाराजजी से एक दृष्टांत सुना था। गुरुदेवः—मेरा जन्म एक मल्लाह के यहां हुआ था इसलिये मैं छोटेपने से नाव को इस पार से उस पार ले जाया करता था। अज्ञानसर नाम के एक भारी तालाब में मेरी नाव थी। उस तालाब की दक्षिण दिशा में एक भारी शहर था जिसमें सब मल्लाह ही रहते थे। बस्ती बड़ी होने से वहां अनेक प्रकार के धंधे होते थे, कई प्रकार की वस्तुयें पैदा होती थीं, कच्चे माल को बनाने की कई कलें थीं। उनमें अखंड अग्नि जला करता और दिन भर धुंवां निकला करता था। अनेक वाणिज्य की दुकानें, गोदाम और कोठियां थीं। हुंडी परचे का काम और सट्टा भी बड़े जोर से चलता था।

लोग क्षण में श्रीमान् और क्षण में भिखारी बन जाते थे। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में जीव जन्तु बढ़ जाते हैं इसी प्रकार वहां की बस्ती बढ़ गई थी और बढ़ती ही चली जाती थी। सब लोग उन्नति उन्नति पुकारते थे और कुछ अपनी मति अनुसार करते भी थे, क्योंकि उनकी उन्नति क्षणिक और अधोगति सहित थी। कोई रोता था तो कोई हँसता था, कोई भीख मांगता था तो कोई दान देता था, कोई विवाह करता था तो कोई स्त्री मर जाने का शोक करता था, कोई पुत्र जन्म का उत्सव करता था तो कोई पुत्र की मृत्यु होने से दुखी होता था। राजमहल की समान हर एक अपना घर बनाना चाहता था। हर एक अच्छा अच्छा खाने पीने, पहनने ओढ़ने और सैर सपाटे में आयु व्यतीत करता था। संसार भर का धन मेरे ही घर में आ जाय ऐसी हर किसी की इच्छा बनी रहती थी। जैसा मैंने लोगों का वर्णन किया ऐसा ही मैं भी था, दिन रात विषय सेवन में मदोन्मत्त रहता था। कभी घोड़ा गाड़ी में बैठने का, कभी मोटर गाड़ी में सैर करने का और कभी वायुयान में ऊंचे उड़ने का मैं बड़ा प्रेमी था और कभी कभी प्रसंग वश अपनी इच्छा की तृप्ति भी कर लिया करता था।

उस महान् तालाब का दूसरा किनारा कुछ और प्रकार का था। वह दिव्य वन के नाम से पुकारा जाता था। जो जो रचना शहर में थी वह सब ही रचना सूक्ष्म रूप से उस वन में भी थी। वन में मनुष्य विचरा करते थे और शहर के सब काम काज भी

वहां देखने में आते थे। वह वन होने से पेड़, पत्ते और कांटां से भरा हुआ था। वहां के सब दुःख भी शहर के समान ही थे किंतु वन में शहर से एक यह दिव्यता विशेष थी कि किसी को कुछ काम नहीं करना पड़ता था, सब का संकल्प सिद्ध था, जिस वस्तु का संकल्प होता था वह ही वस्तु प्राप्त हो जाती थी। संकल्प से ही दुःख होता था तो भी उस समय किसी को यह मालूम नहीं होता था कि उसके संकल्प के अनुसार सब रचना है। मैंने सुख दुःख दोनों का ही अनुभव किया। कभी शहर देखता था, कभी वन में घूमता था और कभी नाव की सैर किया करता था इस प्रकार मैंने अनन्त चक्र लगाये।

जिस तालाब में मैं नाव खेता था उसका जल स्याही के समान काला था और जब नाव पर चढ़ता तब जल के कारण से आकाश में भी अंधेरा हो जाता था। दिन होते हुए भी सूर्य का प्रकाश न दीखता। मैं नाव को अभ्यास की बल्ली से खेता था। जल की कालिमा से जल, मेरी नाव और मेरा शरीर भी नहीं दीखता था। शहर और वन पास होने पर भी दिखाई नहीं देते थे। तीनों स्थानों में चक्र लगाते २ मैं थक गया था, बूढ़ा भी हो गया था, धंधा होता न था इसलिये घबराता था और धंधा छोड़ना चाहता था। शहर वाला अथवा वन वाला जो कोई मुझे मिलता उससे मैं पूछा करता "भाई नाव की बल्ली मेरे हाथ से कैसे छूटेगी?" इसका उत्तर कोई नहीं देता था यद्यपि वे सब मल्लाह ही थे परन्तु किसी ने बल्ली छोड़ी नहीं थी इसलिये बल्ली के छोड़ने

का उपाय भी किसी को मालूम न था। अन्त में एक बार मैं शहर में घूम रहा था वहां एक प्रकाश वाला परदेशी मैंने देखा। स्वभाव से ही मैं उसकी तरफ आकर्षित हुआ और उसके पास जा कर प्रणाम करके नम्रता सहित बैठ गया। फिर मुझमें और उसमें यह बात चीत हुई:-

मैं:—(नम्रता सहित) हे तेजस्वी ! नाव खेते २ मैं बूढ़ा हो गया हूँ ! अब मुझे महान् कष्ट मालूम होता है। मेरे हाथ से नाव चलाने की बल्ली कैसे छूटेगी ?

परदेशी:—(हंसकर) अरे सीधे सादे मल्लाह ! जब तू नाव खेना छोड़ देगा तभी बल्ली तेरे हाथ से छूट जायगी।

मैं:—हाय ! यह मुझसे नहीं बन सकता।

परदेशी:—यदि तू ऐसा नहीं कर सकता तो बल्ली किसी दूसरे के हाथ में तो पकड़ा सकता है।

मैं:—हां महाराज ! यह तो कर सकता हूँ। बताइये किसको पकड़ा दूं ?

परदेशी:—सुन तेरे साथ एक स्त्री रहा करती है, तालाब के अंधेरे के कारण वह तुझे दीखती नहीं है, जब तू नाव पर बैठे तब टटोल कर देखियो, उस स्त्री का हाथ तेरे हाथ में आ जायगा, उसके हाथ में बल्ली पकड़ा दीजो और तू तुरन्त ही नाव में से कूद पड़ियो।

जब मैंने उस परदेशी के कहे अनुसार किया तो क्या देखता हूँ कि न तो शहर दिखाई देता है, न सामने वन है, न तालाब है।

न तालाव का जल है। तब से मैंने नाव खेना छोड़ दिया है। अब सुख दुःख रहित प्रसन्न रहता हूँ। इच्छानुसार निस्पृह विचरता हूं।

सिद्धान्तः—मल्लाह जीव है, संसार अज्ञान है, अज्ञानसर कारण शरीर है, उसका काला जल माया है, भ्रांति अन्धेरा है, दोनों किनारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर हैं, स्थूल शरीर और जाग्रत अवस्था का सब भोग मल्लाह का शहर है, स्थूल शरीर का व्यापार शहर का व्यापार है, सूक्ष्म शरीर और उसके वासनामय भोग दिव्य वन हैं, उसकी सब रचना स्थूल शरीर के समान है, दिव्यता मानसिक क्रिया की है, कारण शरीर में से स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में आना दोनों किनारों पर नाव ले जाना है। जब जीव रूपी मल्लाह देह रूपी नाव खेते खेते थक जाता है और उसे दुःख मालूम होता है तब नाव खेना बुरा समझ कर संसार की निवृत्ति चाहता है और उसका उपाय हर किसी से पूछता है परन्तु संसारी मनुष्य उसका उत्तर नहीं दे सकते। परदेशी दिव्य पुरुष सद्गुरु है। परदेशी इस कारण है कि उसकी स्थिति संसार में नहीं है। वह उपदेश देता है कि जीव! तू कर्ता भोक्ता के भाव रूप वल्ली को छोड़ दे। जीव को यह बात कठिन मालूम होती है, तब सद्गुरु कहता है कि अविद्या स्वरूप एक स्त्री तेरे साथ रहती है, वह तेरे साथ होते हुए भी कारण शरीर में नहीं दीखती, उसका कारण अंधेरा है, उस स्त्री का नाम बुद्धि है, तू कर्ता भोक्ता के अभिमान रूप वल्ली को, बुद्धि को टटोल के—पह-

चान के उसके हाथ में दे दीजो और तुरन्त ही देहाध्यास रूपी नाव पर से नीचे कूद पड़ियो। आत्मा कर्ता भोक्ता नहीं है, कर्ता भोक्ता और प्रपंच का सब भाव माया और उसकी बनी हुई आकृति रूप बुद्धि का है। जब मल्लाह–जीव सब बोझा उस (बुद्धि) पर पटक देता है तब सुख दुःख रहित प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

इस दृष्टांत से कारण शरीर और उससे मुक्त होने का उपाय समझ में आ गया होगा।

स्थूल और सूक्ष्म शरीर की समान कारण शरीर भी आत्मा नहीं है क्योंकि आत्मा के लक्षणों से उसका कोई लक्षण नहीं मिलता। आत्मा द्रष्टा, अविकारी, बोध स्वरूप, व्यापक, अपरिच्छिन्न, नित्य, निर्मल, प्रकाश स्वरूप, चैतन्य स्वरूप, आनन्द स्वरूप और अद्वैत है। इससे विरुद्ध कारण शरीर देखने और समझने में आने से दृश्य है, स्थूल और सूक्ष्म दोनों उसके विकार होने से सुषुप्ति अवस्था में जड़ होने से सूक्ष्म में वासनामय और स्थूल में क्रिया वाला होने से विकारी है, वह अपने और दूसरे को नहीं जानता इसलिये जड़ अबोध रूप है, भ्रान्ति से व्यापक की समान मालूम होते हुए भी अणु है, क्योंकि हृदय उसका स्थान है इसलिये परिच्छिन्न है, सूक्ष्म और स्थूल में परिवर्तन होता है इसलिये अपरिच्छिन्न नहीं है, सदा एक स्थिति में नहीं रहता इसलिये नित्य नहीं है, अपने कार्य के सूक्ष्म संस्कारों से युक्त होने से निर्मल नहीं है, तमोगुण वाला होने से अन्धकारमय

है इसलिये प्रकाश स्वरूप नहीं है, अचेतन होने से चित् स्वरूप नहीं है और आनन्द वाला होने से आनन्द स्वरूप नहीं है; उसका आनन्द अनित्य क्षणिक है माया की एकता में है और आवरण सहित है इसलिये वह आनन्द स्वरूप नहीं है वह अद्वैत समान दीखता है तो भी बीज रूप संस्कार होने से द्वैत रूप है, द्वैत भाव का उसमें अभाव है, पर अद्वैतता उसमें नहीं है और द्वैत का उत्पादक होने से भी वह अद्वैत नहीं है। ऐसे विरुद्ध लक्षणों वाला होने से कारण शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा उससे भिन्न है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

ऊपर वर्णन किये हुए तीनों शरीर माया के हैं। तू चैतन्य स्वरूप माया का शरीर नहीं हो सकता। तू शरीर न होते हुए भी किसी एक अथवा विशेष में आत्मा की भ्रान्ति करके अज्ञानी जीव बन बैठा है, वस्तुतः तुझमें अज्ञान नहीं है। तू संसारी भी नहीं है किंतु तेरी मानसिक कल्पना का भूत-अज्ञान तुझमें भर जाने से तू अपने को सुखी, दुखी मानता है।

शिष्यः—आत्मा कारण शरीर नहीं है तब कौन है? तीनों शरीरों में कारण शरीर सब से सूक्ष्म है वह भी मैं-आत्मा नहीं हूं तब आत्मा और कौन है? मेरी समझ में तो आत्मा के लक्षण कारण शरीर से मिलते हैं इसलिये कारण शरीर ही आत्मा हो ऐसा समझ में आता है। आत्मा को अद्वैत, असंग, अक्रिय और निर्विकार कहते हैं, कारण शरीर भी इसी प्रकार का है। कारण शरीर में द्वैत का भान न होने से अद्वैत है, क्योंकि वहां मेरा, तेरा

और अन्य पदार्थ नहीं होते, आत्मा को भी ऐसा ही अद्वैत आप कहते हैं। किसी पदार्थका संग कारण शरीर में नहीं है, इसलिये आत्मा का असंग लक्षण उसमें घटता है। जैसा आप आत्मा को अक्रिय बताते हैं वैसा ही वह है क्योंकि उसमें स्थूल अथवा मानसिक कोई क्रिया नहीं होती। उसमें कोई विकार भी नहीं है, जो विकार होता तो मालूम होता, विकार मालूम नहीं होता इसलिये उसमें विकार कोई नहीं है। ऐसे लक्षण मिलने पर भी वह आत्मा क्यों नहीं है? यदि उसके सिवाय आत्मा कोई और है तो समझने में क्यों नहीं आता?

संतः—मैं प्रथम समझा चुका हूं फिर भी सुनः—आत्मा की अद्वैतता कारण शरीर के समान नहीं है। आत्मा अखंड अद्वैत है—चेतन है। कारण शरीर में अद्वैतता नहीं है, वहां मात्र द्वैतता का अभाव ही नहीं है, किंतु अभाव भाव को भी प्राप्त हो जाता है, वह जड़ स्वरूप और शून्य स्वरूप है, इसलिये आत्मा के समान नहीं है। वह असंग भी नहीं है किंतु संग वाला है क्योंकि वह कारण होने से कार्यके सूक्ष्म बीजके संग वाला है यदि संग वाला न होता तो स्थूल, सूक्ष्म से कारण में जाकर वहां से उसका आना संभव न था। जैसे नदी में जल मात्र दीखता है और उसके भीतर रहने वाले मिट्टी पत्थर नहीं दीखते इसलिये ऐसा नहीं कह सकते कि नदी में मिट्टी पत्थर नहीं हैं। कारण शरीर अक्रिय भी नहीं है। क्रियाका भान न होने से वह अक्रियके समान मालूम होता है किंतु यदि उसमें क्रिया न होती तो उससे सूक्ष्म,

स्थूल अवस्था की प्राप्ति किस प्रकार होती, इन अवस्थाओं की प्राप्ति से ही वह विकारी है। आत्मा ऐसा नहीं है। इसलिये सूक्ष्म विचार द्वारा कारण शरीर से आत्मा को भिन्न समझ।

यदि तू यह कहे कि जो मुझे एक बार आत्मा मालूम हो हो जाय तो मैं शरीर को आत्मा न मानूं, यह तेरा कहना तेरी योग्यता के अनुसार है, परन्तु इस समय की योग्यता में एक साथ आत्मा को जान जाना असम्भव है। मेरे कहे अनुसार तू निश्चय करता जा। समय आने पर मैं आत्मा का बोध करा दूँगा।

जैसे कारण शरीर आत्मा नहीं है ऐसे ही वह आत्मा का भी नहीं है। जो जिसका होता है उसमें उससे किसी न किसी अंश में समानता अवश्य होती है। कारण शरीर और आत्मा में किसी प्रकार की समानता नहीं है। दोनों का देश भिन्न है, वे दोनों कभी एक देश में नहीं आते। आत्मा का देश परम तत्त्व है, कारण शरीर का देश माया की भ्रान्ति है। एक देश में हुए विना कभी 'मेरा' ऐसा सम्वन्ध नहीं हो सकता। उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा की समान ये दोनों विरुद्ध हैं। चैतन्य के भाव में माया नहीं दीखती और माया के भाव में चैतन्य नहीं दिखाई देता। फिर चैतन्य आत्मा माया का शरीर किस प्रकार हो ?

दोनों का काल भी भिन्न २ है। एक काल में दोनों का होना असम्भव है तब कारण शरीर आत्मा का किस प्रकार हो ? आत्मा असंग होने से उसका और कारण शरीर का किंचित् भी मेल नहीं हो सकता।

यदि तू कहे कि जड़ शरीर चैतन्य के सम्बन्ध विना चेष्टा किस प्रकार करता है ? तो सुन, विना सम्बन्ध ही अज्ञान से 'मैं' और 'मेरा' रूप मानने रूप भ्रांति के संबंध से, भ्रांति के शरीरों की भ्रांति में चेष्टा होती दीखती है। ऐसी भ्रांति को सच्चा मानने वाला अज्ञानी है इसलिये वह माया के कष्टों को अपना मान कर दुखी होता है।

जिस प्रकार एक नर्तकी स्त्री नाटक घर में पुरुष के कपड़े पहन कर पुरुष के समान क्रियायें करती दीख पड़ती है और उस समय पुरुष ही है ऐसा मालूम पड़ता है परन्तु वस्तु रूप से देखा जाय तो न तो वह पुरुष है और न उसमें पुरुपत्व का किंचित् अंश है, न उससे और पुरुष से कुछ संबंध है इसी प्रकार मायाके तीनों शरीर चाहे आत्मा-पुरुष के वस्त्र पहन कर आवें, नाचें, और अपने को पुरुष बतावें परन्तु समझने वाले मनुष्य उनकी सूक्ष्म चेष्टा से जान लेते हैं कि वास्तव में वे पुरुष नहीं हैं इसी प्रकार तुझे भी समझना चाहिये।

कारण शरीर ही अज्ञान की जड़ है। अज्ञान की निवृत्ति से उसकी निवृत्ति होती है। अज्ञान भूल को कहते हैं, भूल का निकल जाना ही अज्ञान का निकल जाना है। 'मैं कारण शरीर हूँ, अथवा मेरा कारण शरीर है' ऐसा मानना ही भूल है, ऐसा न मानना भूल का निकल जाना है।

जैसे अन्धेरे और चंचलता आदिक के कारण से जब किसी को रस्सी में सर्प दिखाई देता है तो वह उसे देख कर घबरा जाता

है, कांपता है अथवा गिर जाता है इसी प्रकार संसार का तमाशा है। देख, जैसे रस्सी सर्प नहीं है, उससे सर्प का कुछ संबन्ध भी नहीं है इसी प्रकार माया और उसके तीनों शरीरों को समझ, आत्म रूप रस्सी में तीनों काल में भी शरीर रूप सर्प नहीं है और न शरीर रूप सर्प का उससे संबंध है।

जब तक संसार का भाव रहेगा तब तक आत्मा का बोध कभी नहीं होगा इसलिये प्रथम संसार के भाव को हटाना चाहिये। संसार का भाव ही आत्मा के जानने में आड़ रूप है इसलिये जितना संसार का भाव हटता जायगा उतनी ही बुद्धि सूक्ष्म होती जायगी। जब बुद्धि आत्म भाव वाली बन जायगी तब आत्मा को जान कर फिर आत्म भाव वाली नहीं रहेगी। स्वयम् तत्त्व शेष रहेगा।

प्रथम गुरु और शास्त्र वाक्य में श्रद्धा करनी पड़ती है। आत्म-भाव की बुद्धि की प्रबलता से शनैः २ संसार का भाव हटता जाता है और आत्म भाव वाली बुद्धि दृढ़ होती जाती है। जब संसार का विशेष भाव हट जाता है तब आत्म संस्कार वाली बुद्धि में से विशेष मलिनता हट जाती है। इसलिये संसार का भाव हटाना और आत्म भाव की वृद्धि करना दोनों को साथ २ काम में लाने से अन्तःकरण ज्ञान के ग्रहण करने योग्य होजाता है। उस समय सद्गुरु के मुख से सुने हुए तत्त्वमसि आदि महावाक्य का भाग-त्याग लक्षणासे लक्षार्थ ग्रहण करनेसे आत्म बोध होता है अभी तो 'कारण शरीर मैं नहीं हूँ, और वह मेरा नहीं है, मैं आत्मा उससे पृथक् हूँ' इतना ही निश्चय कर।

आनन्दमय कोश।

जब मनुष्य सो जाता है और गहरी नींद में पड़ जाता है तब वह सुषुप्ति अवस्था कहलाती है और जिस शरीरमें वह होती है। उसे कारण शरीर कहते हैं, उसमें ही आनन्दमय कोश है। जहां कोई पदार्थ नहीं होता, जहां किसी पदार्थ की कामना नहीं होती, जहां किसी प्रकार का स्वप्न नहीं दिखाई देता, जहां किसी प्रकार का विचार नहीं होता, जहां विषय और विषयी नहीं होते, और जहां द्वैत की प्रतीति नहीं होती ऐसी अवस्था को आनन्दमय कोश, कारण शरीर अथवा सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। जहां से जाग्रत होने के पीछे मनुष्य कहता है कि मैं सुख से सोया था और जहां कुछ कहना नहीं बनता वह आनन्दमय कोश है। कारण शरीर का आनन्दमय कोश पांचों कोशों में सूक्ष्म से प्रथम और स्थूल से अंतिम है। जैसे स्थूल शरीर में एक अन्नमय कोश है इसी प्रकार कारण शरीर में एक आनन्दमय कोश ही है। चारों कोशों के आनन्द से उसमें विशेष आनन्द होने से वह आनन्दमय कोश कहलाता है। तीनों शरीरों में जिस आनन्द का भान होता है वह आनन्द आत्मा का है, परंतु पदार्थ के सहारे से भान होने के कारण वह आत्मा का आनन्द आवरण सहित ही है जब किसी पदार्थ के सहारे चित्त की एकाग्रता होती है तब उस पदार्थ में आत्मा के आनन्द का भान होता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में तो पदार्थ के सहारे ही आनन्द का भान होता है और आनन्दमय कोश में यद्यपि कोई पदार्थ नहीं है तो भी पदार्थ का अभाव रूप अव-

लम्बन अवश्य है, इसलिये पदार्थ के अभाव में एकाग्रता होने से वहां का आनन्द भी मायिक है, वह आनन्द स्वरूप आत्मा नहीं है। वह आनन्द अविद्या के सहारे है। कारण शरीर अविद्या में है इसलिये निर्विषय आत्मानन्द नहीं है। आत्मानन्द स्वाश्रय है, आनन्दमयकोश पराश्रय है। बुद्धि जाग्रत और स्वप्नावस्थाका ग्रहण करने वाली है, सुषुप्ति में वह सोई हुई-दबी हुई होने के कारण प्रत्यक्ष न होने से आनन्दमय के आनन्द को ग्रहण नहीं करती। ग्राहक, ग्राह्य और ग्रहण त्रिपुटी में होता है, सुषुप्ति में त्रिपुटी का भान नहीं रहता किंतु जीवात्मा सुषुप्ति की स्थिति-आनन्द की स्मृति रखता है, जब बुद्धि सचेत होती है तब वह (बुद्धि) जीव के अनुभव किये हुए आनन्द का वर्णन करती है। जहां त्रिपुटी का अभाव होता है, वहां दुःख का अभाव रूप आनन्द होता है अर्थात् वह स्थिति आनन्द के समान है। जैसे कोई मनुष्य चलते चलते दोपहरी में जब थक कर किसी वृक्ष के नीचे बैठ जाता है तो उसे वहां दुःख का अभाव रूप आनन्द मालूम होता है, इसी प्रकार जीवात्मा जब स्थूल और सूक्ष्म विषयों में घूमते घूमते थक कर अपने कारण रूप अविद्या में जाता है तब उसे विषयों का अभाव रूप जो विश्रान्ति मिलती है, वह ही आनन्दमय कोश है।

आत्मा आनन्द स्वरूप है, जब उसका आभास अविद्या रूप कारण शरीर में पड़ता है तब वह आनन्दमय कोश कहलाता है। वह आनन्द अविद्या के कारण होने के सिवाय निर्विषय है वहां से जब वह बुद्धि रूप दूसरे आवरण में प्रतिबिम्बित होता है तब

वह बुद्धि के साथ में चित्-चैतन्य कहलाता है, और फिर जब मन रूप आवरण में प्रतिबिम्बित होता है तब मन के साथ सत्य कहलाता है। एक ही आत्मा का आनन्द स्वरूप तीन आवरण के साथ तीन प्रकार का भासता है। मायिक सहारे सहित भास मायिक है, क्षणिक है और दृश्य है, आनन्दमय भी ऐसा ही है इसलिये आत्मा नहीं है। तुझे पूर्व समझा चुका हूँ कि कारण शरीर माया का है तब उसमें रहने वाला कोश भी माया ही का है। आत्मा अखंडित आनन्द स्वरूप है, आनन्दमय कोश ऐसा नहीं है, फिर आनन्दमय आत्मा कैसे हो सकता है?

कारण शरीर रूप अविद्या में जो मलिन सत्व है, उसमें प्रिय, मोद, प्रमोद नामक अति सूक्ष्म वृत्तियां होती हैं, उनमें जो आनन्द होता है उसको आनन्दमय कोश कहते हैं। अनुकूल पदार्थ देखकर जो आनन्द होता है उसको प्रिय, उसके प्राप्त करने से जो सुख होता है उसको मोद, और उसके भोग में जो सुख होता है उसको प्रमोद कहते हैं। प्रपंच के विषयों से रहित, दुःखों से रहित प्रिय है, निर्विषयता की प्राप्ति मोद है और उसमें टिकना प्रमोद है। अप्रत्यक्ष सूक्ष्म वृत्तियां मायिक हैं आनन्दमय कोश प्रकाश्य है, आत्मा उसका प्रकाशक है। तू आत्मा सब शरीरोंका और कोशों का द्रष्टा है और वे सब तेरे दृश्य हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को तू जानता है, तू सच्चिदानन्द है। तीनों काल में एक सा रहता है, इसलिये सत् है, सब अवस्थाओं को जानता है, इसलिये चित् है और परमानन्द का विषय स्वयं होने से आनन्द स्वरूप है।

शिष्यः—आपने कहा कि तू तीनों शरीरों और पंचकोश को जानता है सो मैं किस प्रकार जानता हूं ? जाग्रत और स्वप्न को तो मैं जानता हूं, परंतु कारण शरीर की सुषुप्ति को मैं किस प्रकार जानता हूं ? जब मैं सुषुप्ति में जाता हूं तब मैं ही नहीं रहता तो जाने कौन ? कारण शरीर का भान मुझे नहीं होता, मैं जाग्रत में आकर कहता हूँ कि मैंने कुछ नहीं जाना, तब उसे जानने वाला मैं किस प्रकार हुआ ? जो आनन्दमय कोश रूप ही मैं होऊं तो मेरा जानना मुझ से न हो परंतु आप मुझे उससे भी भिन्न बताते हैं, मैं भिन्न मालूम नहीं होता और कारण शरीर को भिन्न जानता भी नहीं, यदि जानता होऊं तो आप बताइये कैसे जानता हूँ।

संतः—स्थूल और सूक्ष्म शरीर को तू किस प्रकार जानता है ? तेरी बुद्धि के अनुसार तो तू किसी शरीर को भी नहीं जानता। स्थूल शरीर की जाग्रत अवस्था को तू तभी जान सकता है जब तू उससे पृथक् हो। जाग्रत अवस्था हो कर तू जाग्रत को नहीं जान सकता तो स्वप्न और सुषुप्ति को भी नहीं जान सकता। सुनः-तू इस प्रकार जानने वाला है। स्वप्न की स्मृति से स्वप्नका जानने वाला तू सिद्ध होता है क्योंकि विना अनुभव किसी की स्मृति होती नहीं। स्वप्न अथवा सुषुप्ति की स्मृति के लक्ष से ही जाग्रत अवस्था का बोध होता है, इसी प्रकार जाग्रत और सुषुप्ति की स्मृति से स्वप्न का और जाग्रत और स्वप्न की स्मृति से सुषुप्ति का बोध होता है। इस प्रकार तू तीनों अवस्थाओं का जानने वाला है। जाग्रत आदि अवस्थाओं के बदलते हुए भी तू

नहीं बदलता । यह तो तू जानता ही है कि तू वह का वह ही है । सुषुप्ति में तू शून्य सा हो जाता है । तब तू जाग्रत में आ कर अपने को शून्य नहीं मानता, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अनेक चक्र घूमने पर भी तू अपने को जैसे का तैसा मानता है । इससे सिद्ध होता है कि तू तीनों शरीर और उनकी अवस्थाओं का अविकारी द्रष्टा है । तू ज्ञान स्वरूप है इसलिये सब प्रकार के अज्ञान का द्रष्टा है । कारण शरीर का कारण अज्ञान और सूक्ष्म स्थूल का कार्य अज्ञान तेरे जानने का विषय है, तेरा दृश्य है और तू उसका द्रष्टा है । सुषुप्ति से उठ कर तू कहता है कि मैंने कुछ नहीं जाना, यह ही अज्ञान है । अज्ञान का अर्थ ज्ञान का न होना नहीं है किंतु उलटे भाव का ज्ञान ही अज्ञान है । ज्ञान का अर्थ जानना है चाहे वह जानना सीधे भाव से हो चाहे विरुद्ध से हो । जब तू कहता है कि मैंने कुछ नहीं जाना तो यह तेरा कहना कुछ न कुछ जान कर ही है यदि तू जानता ही नहीं तो ऐसा कहना ही नहीं बनता । तू जिसको 'कुछ' कहता है वह तेरा 'कुछ' यह प्रपंच था और उस प्रपंच का अभाव था इसलिये तूने वहां प्रपंच के अभाव को जाना था । उसी का तू द्रष्टा है ।

शिष्यः—यह तो आपने जाग्रत की बात कही, जहां जिस समय कोई वस्तु नहीं होती वहां किसी को नहीं जाना जाता । जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति नहीं है, तब जाग्रत में मैं उसे कैसे जानूं और सुषुप्ति में सुषुप्ति को जान ही नहीं सकता तब मैं किस प्रकार उसका द्रष्टा हूं ? यदि मैं सुषुप्ति में सुषुप्ति को जानता होता तो द्रष्टा हो सकता था ।

संतः-मैं तुझसे पूर्व कह चुका हूं फिर भी सुनः-मेरा कहना यह नहीं है कि जाग्रत में तू सुषुप्ति को जानता है, किंतु सुषुप्ति में सुषुप्ति को जानता है यह मेरा कहना है। सुषुप्ति में बुद्धि न होने से उसको उस समय कह नहीं सकता। जाग्रत में सुषुप्ति की जो स्मृति होती है वह विना अनुभव नहीं होती, अनुभव ही जानना है। जानते हुए भी बुद्धि और इन्द्रियों का अभाव होने से पृथक् भाव रहित में कहना नहीं वनता, उसको समझने के लिये एक दृष्टांत सुनाता हूं।

एक स्थान पर एक साहूकार ने भोजन करने को मेरा निमंत्रण किया। मैं समय पर वहां पहुंचा। साहूकार ने भोजन की अनेक सामग्री प्रेम पूर्वक तैयार कराई थीं। पूर्ण सत्कार सहित उसने मुझे भोजन करने को वैठाया। उस समय मैंने मौन होकर भोजन करने का नियम कर रखा था और पात्र में जितना भोजन हो सभी खा जाता था, शेष नहीं छोड़ता था। कभी भोजन से विशेष होता तो भी मैं खा जाया करता था, मैं भोजन करने लगा। अनेक प्रकार के मिष्टान्न थे और कई प्रकार के आचार और तरकारियां भी थीं। उनमें तोरई की तरकारी भी थी जब मैं उसे खाने लगा तो मालूम हुआ कि तोरई कड़वी थीं, प्रथम तो मैं थोड़ा थोड़ा मिष्टान्न खाता रहा, फिर मेरे जी में विचार आया कि मिष्टान्न खाने के पीछे पेट भर जाने पर कड़वी तोरई खाई न जांयगी और मुझे भोजनों में से कुछ छोड़ना नहीं है इसलिये तोरई प्रथम ही खा लेनी चाहिये। यह विचार कर तर-

कारी बहुत बहुत खाने लगा, और मिठाई बहुत कम खाई, साहूकार की स्त्री जो मेरे भोजन के थाल को देख रही थी, थाल में तोरई कम देख कर और तोरई ले आई और मेरे मने करने से प्रथम ही उसने बहुत सी तोरई परोस दीं। मैं तो तरकारी निबटाना चाहता था, बहुत सी परोसी हुई देखकर घबराया परन्तु करूं तो क्या करूं? मौन रहने के कारण मुख से कह नहीं सकता था और वे मुझे बहुत ही कड़वी मालूम होती थीं, खाई नहीं जाती थीं, धीरे धीरे खाने लगा, सबसे प्रथम मुझे ही भोजन करने को बैठाया था, घर वाले किसी को मालूम न था कि तरकारी कड़वी है, मुझे खबर थी परन्तु मैं कह नहीं सकता था। फिर मैंने तरकारी खाना आरम्भ किया और मुझे विशेष तरकारी नहीं चाहिये यह जताने के लिये थाल के एक तरफ हाथ रख कर मैं भोजन करने लगा। उस स्त्री ने मेरी दृष्टि चुका कर तोरई की तरकारी फिर थाल में परोस दी। अब क्या करना? वह स्त्री समझती थी कि महाराज को तोरई की तरकारी बहुत स्वादिष्ट लगती है। अन्त में जैसे तैसे मैं भोजन करके उठा, बहुत सी तरकारी और मिठाई खाने से मैं घबरा गया था इसलिये उसी स्थान पर लेट गया पश्चात् दो चार क़ै हुईं। घर वाले मुझे बेहोश देखकर घबरा गये। उस दिन मैं अपने स्थान पर न पहुंच सका, वहीं रहा। जब कुछ शान्ति हुई तब मैंने तोरई की कथा सुनाई, सुनकर सब बहुत ही दुखी हुए। तब मैंने इन्हें समझाया कि इसमें तुम्हारा क्या दोष है, तुम्हें तरकारी का हाल मालूम न था। इस प्रकार समझा कर मैं वहां ही लेट रहा

उस दिन से मैंने मौन रहने का और भोजन में से शेष न रखने का नियम तोड़ दिया।

जैसे मैं जानते हुए भी मौन रूप आड़ होने के कारण बोल न सका इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था का हाल है उस समय बुद्धि के अभाव रूप मौन से जीव जानता हुआ भी कुछ नहीं कह सकता। जैसे मैंने भोजन के पीछे तोरई की बात कही थी क्योंकि उस समय मौन का बन्धन न था इसी प्रकार जब बुद्धि भाव रूप में आती है तब जीव अपने अनुभव का वर्णन करता है। सायंकाल को साहूकार, मैं, और उसके दो मनुष्य चांदनी में लेटे हुए थे, साहूकार ने जानकर भी न बोलने का अपने ऊपर बीता हुआ प्रसंग इस प्रकार सुनायाः

साहूकारः—महाराज! मुझ पर एक समय महान् आपत्ति आई थी, कोई चार वर्ष हुए इन ईशरा और सरदारसिंह (दोनों आदमियों के नाम) के सामने की बात है। एक रात्रि को मैं घर पर अकेला था, स्त्री लड़के अपने ननसाल गये थे, ईशरा उन्हें पहुँचाने गया था और यह जमादार (सरदारसिंह) दो कोश एक ग्राम में उगाही के लिये गया था। रात्रि को चार चोर मेरे मकान में घुसे और मेरे सिवाय और किसी को घर पर न देखकर उन्हें हिम्मत बढ़ गई, वे मुझे धमकाने लगे। मैंने अपनी माल मिलकियत जहां रक्खी थी सब बता दी। उस दिन घर में विशेष माल न था, जेवर स्त्री के साथ चला गया था, जो कुछ थोड़ा रह गया था सब मैंने बता दिया। चोरों ने मेरे मुख में

कपड़ा ठूंस कर मेरा मुख बन्द कर दिया और हाथ पैर बांध दिये जिससे मैं बोल न सकूं और भाग न जाऊं। मेरी दिखाई वस्तुयें वे निकालने लगे उनमें थोड़ा सा चांदी का जेवर था और विशेष कर कीमती कपड़े ही थे, एक बहुमूल्य नथ भी थी जो चांदी के जेवर के साथ डिब्बे में रक्खी थी। मेरा मुख और हाथ बन्द थे परन्तु नेत्र खुले हुए थे। चोर जो जो अलमारी खोलते थे और उनमें से जो जो निकालते थे मैं सब देखता था परन्तु बोल नहीं सकता था। इसी प्रकार आज महाराज का हाल हुआ।

मैं:—भला फिर क्या हुआ ?

साहूकार:—थोड़ी देर में आसपास के लोग जाग गये, बहुत से आदमी दौड़ आये। इतने ही में सरदारसिंह भी उगाही न मिलने से और घर पर मुझे अकेला समझ कर लौट आया। पड़ोस में आकर उसने सुन लिया था कि मेरे मकान में चोर घुसे हैं। चोर सब सामान की गठरी बांध चुके थे इतने ही में बाहर से कोलाहल सुन कर भागने लगे। एक चोर गठरी लेकर भागा परन्तु जब गठरी भारी देखी तब कुंए में डाल दी। गठरी ठीक न बंधी होने के कारण खुल गई और सब वस्तुयें कुंए में गिर गईं। चोर भाग गये, पड़ोसी और सरदारसिंह घर में घुस आये। मुझे बंधा हुआ देखकर सब ने मुझे बंधन से मुक्त किया तब मैंने सब वृत्तान्त सुनाया।

मैं:—तुम्हारी कथा ठीक ठीक सुषुप्ति की अवस्था के समान है। सब कुछ होश होते हुए भी तुम बोलने और भागने को

अशक्त थे। मुक्त होने के पीछे तुमने सब हाल सुनाया। जब मनुष्य गाढ़ी नींद में पड़ जाता है तब इन्द्रिय रूपी हाथ और मुख रूपी अन्तःकरण अज्ञान के बन्धन में फंस जाता है इसलिये उस समय वह क्रिया नहीं कर सकता, साची उस समय सचेत होता है, इन्द्रिय और अन्तःकरण छूटने के पीछे वह वहां का वर्णन कह सुनाता है।

ईशराः—महाराज! सुबह में आ गया। सेठ जी ने कुंए में से सब सामान निकालने को कहा। मैं कुंए में उतरा। सेठ जी और सरदारसिंह ऊपर रहे। मैं जो जो कपड़ा मिलता था, उसे टोकरी में रख देता था और सेठ जी और सरदारसिंह ऊपर खींच लेते थे। सब वस्तुयें निकल आईं परंतु नथ वाला डिब्बा खुल गया था खाली डिब्बा और ढक्कन मिल गये नथ न मिली। सब कपड़ों से नथ विशेष कीमती थी। कुंआ गहरा था। सेठ जी ऊपर से 'नथ मिली' 'नथ मिली' बारंबार पुकारते थे। मैं कुछ बोल नहीं सकता था। नथ नहीं मिली मैं जानता था परंतु कह नहीं सकता था। इस प्रकार ढूंढते ढूंढते एक घंटे पीछे नथ मिली तब मैंने जल में से बाहर आ कर कहा 'नथ मिल गई है'। फिर मैं ऊपर आ गया।

मैं:-तेरा यह वृत्तांत भी सुषुप्ति अवस्था को समझाता है। वाचा का देवता अग्नि है, जल से उसका वैर है, इसलिये जल में वाचा बोल नहीं सकी यद्यपि तू समझता था कि नथ मिली अथवा न मिली। जब वाचा जल के आवरण से मुक्त हुई तब किये हुए अनुभव को कह सकी।

सरदारसिंह:-महाराज ! मैं एक बार आप जैसे एक महात्मा का दर्शन करने गया, उस समय पुलिस में नौकर था। महात्मा जी ने मुझसे पूछा "कल रात्रि में रस्ते के ऊपर किसका पहरा था?" मैंने कहा "मेरा" महात्मा जी ने कहा "रात्रि को दो बजे रस्ते के ऊपर कौन था?" मैंने कहा "कोई नहीं!" महात्माने कहा "कोई नहीं था, यह तू ने कैसे जाना?" मैंने कहा "मैं पहरे पर था, कोई होता तो मालूम होता!" महात्मा ने कहा "जब तू था तो कोई न था यह क्यों कहता है? तू तो था ही! परन्तु तेरे सिवाय और कोई नहीं था, ऐसा कह।" मैंने कहा "हां! मैं था!" महात्मा ने कहा "इससे क्या समझा? इस समय सुषुप्ति अवस्था संबंधी प्रसंग चल रहा था। जैसे तू होते हुए भी कोई न था ऐसा कहता है इसी प्रकार गहरी नींद में पड़ कर जब मनुष्य जागता है तब कहता है कि मैंने कुछ नहीं जाना। कोई जानने वाला ही न हो तो ऐसा कौन कहे? वहां पर जानने वाला अवश्य होता है तब ही तो कहता है।"

इस प्रकार सरदार सिंह का वृत्तांत सुन कर और सुषुप्ति अवस्था के विषय में बात चीत कर हम सब सो गये। प्रातः-काल मैं अपने स्थान पर आ गया।

आनन्दमय कोश का आनन्द, जाग्रत और स्वप्नावस्था में किये हुए कर्म (श्रम रूप यज्ञ) का फल है। इस प्रकार कर्म से उसकी उत्पत्ति है और उसकी निवृत्ति भी हो जाती है। आनन्द स्वरूप आत्मा किसी का फल स्वरूप नहीं है, उसकी नवीन उत्पत्ति नहीं

होती इसलिये उसकी निवृत्ति भी नहीं होती। पापी पुण्यात्मा और सब अज्ञानियों को सुषुप्ति का आनन्दमय रूप फल अप्रयत्न, स्वाभाविक क्रिया से प्राप्त होता है। वह उत्पत्ति और नाश वाला है, क्षणिक है, माया में है, स्व अज्ञान स्वरूप है, शरीर वाला और अवस्था वाला है इसलिये आत्मा नहीं हो सकता।

आनन्दमय कोश जिस प्रकार आत्मा नहीं है इसी प्रकार आत्मा का भी नहीं है। दोनों एक दूसरे से विरुद्ध हैं, उनमें किंचित् भी समानता नहीं है इसलिये उनका संबंध होना असम्भव है। वह आत्मा का नहीं है किंतु माया का है। संबंध न होते हुए भी संबंध मानना अज्ञान है, इसलिये ज्ञान प्राप्ति की इच्छा वालों को आत्मा और आनन्दमय कोश का संबन्ध मानना उचित नहीं है।

शिष्यः—यदि मैं आनन्दमय कोश को ही अपना आत्मा मानूं तो मेरी क्या हानि है। हानि दुःख रूप है, आनन्दमय कोश में दुःख है नहीं। फिर आत्मा मानने में क्या हानि है। शांति, प्रिय, मोद और प्रमोद ये भी उसमें प्राप्त होते हैं। संसार की विविधता (अनेक पना) भी उसमें नहीं है, इसलिये संसार भी उसमें नहीं है क्योंकि संसरने का उसमें अभाव है तब संसार से परे आनन्द वाला वह ही आत्मा हुआ।

संतः—नहीं, जिस प्रकार तू आनन्दमय को आत्मा मानने को कहता है ऐसा मानना न चाहिये, आनन्दमय किसी प्रकार आत्मा नहीं हो सकता। उसके आत्मा मानने में क्या क्या हानि हैं सो सुनः—

आनन्दमय क्षणिक है, इसलिये तू भी क्षणिक हो जायगा, आनन्दमय में प्रत्यक्ष सुख नहीं है किंतु अभाव रूप संस्कार है। काम क्रोधादि सब द्वन्द्व उसमें दबे रहते हैं प्रगट होकर संसरण रूप संसार उत्पन्न करते हैं। कारण शरीर अकेला नहीं रहता, यह बात मैं प्रथम बता चुका हूं, वह सदा विज्ञानमय की सूक्ष्मता सहित रहता है, यदि अकेला रहे तो कारण किसका कहा जाय? इसलिये उसको आत्मा मानने से संसार की निवृत्ति कभी नहीं होगी और संसार की निवृत्ति न होने से जन्म मरणादिक दुःखों की निवृत्ति भी न होगी।

शांति, प्रिय, मोद और प्रमोद जो तूने बताये वे आत्मा के नहीं हैं, माया के हैं इसलिये माया में ही हैं। उनके रहते हुए अज्ञान की निवृत्ति कैसे हो सकती है? जो कोई आनन्दमय को आत्मा मान कर उपासना करता है—भाव दृढ़ करता है तो उपासक उसका फल स्वरूप जड़ हो जाता है, पाषाण की समान मूढ़ हो जाता है। शून्यवादी ऐसा ही मानते हैं और शून्य की भावना करने से शून्य रूप मूढ़ योनियों को प्राप्त होते हैं। आनन्दमय कोश आत्मा नहीं है किन्तु तमोगुण का कार्य है, उसकी भावना करने वाला तमोगुण रूप जड़ता को प्राप्त होता है; तमोगुणी भाव वाला गुणातीत आत्म स्वरूप को कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

आनन्दमय की भावना में जितनी दृढ़ता और काल लगेगा, हम उसी के अनुसार जड़ता रूप फल को प्राप्त करके उतने ही काल

में निवृत्त होंगे और पूव वासना के अनुसार जन्म धारण करके संसार चक्र में घूमते रहेंगे। आनन्दमय को आत्मा मानने से अनेक जन्मों के संचित कर्मों का नाश नहीं होता क़िन्तु वे जड़ता रूप फल के समय दबे रहते हैं और उसके निवृत्त होने पर उनका उद्भव होता है। सारांश यह है कि उसे आत्मा मानने से दुःखों की अत्यंत निवृत्ति नहीं होती किन्तु आत्मा में आत्मभाव करने से ही अज्ञान का भाव निवृत्त होता है। जब आत्मभाव और जगत् भाव दोनों की निवृत्ति हो जाती है तब संचितादि सब प्रकार के कर्मों का नाश हो जाता है। माया के सब प्रपंच का मूल सहित नाश होने पर वस्तु स्वरूप आत्मा की जो प्राप्ति होती है वह कभी निवृत्त नहीं होती।

आत्मप्राप्ति आत्मभाव का फल स्वरूप नहीं है। आत्मभाव का फल अज्ञान का अभाव है। अज्ञान के निवृत्त करने को आत्मभाव किया जाता है, उसे निवृत्त करने को और किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। जैसे अग्नि लकड़ियों को जला कर आप भी शांत हो जाता है ऐसे ही आत्मभाव शांत होकर अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त होता है। यह प्राप्ति उत्पन्न नहीं होती इसलिये उसका नाश भी नहीं होता। आनन्दमय को आत्मा मानने से ऐसा नहीं होता। यदि पाषाण समान जड़ होने की और मूढ़ योनियों को प्राप्त होने की तेरी इच्छा हो तो आनन्दमय कोश को आत्मा समझ, आत्मा को शून्य मान, परन्तु मैं जानता हूँ कि तू ऐसा होना नहीं चाहता। आत्मभाव के सिवाय अनात्म के जितने

भाव हैं वे सब बनने और बिगड़ने वाले हैं, सुख स्वरूप कोई नहीं है। आनन्दमय कोश को आत्मा मानने से दुःख की अत्यंत निवृत्ति नहीं होगी और न परमानन्द की प्राप्ति होगी। उसको आत्मा मानता है तो उसे क्यों छोड़ देता है यह तो तुझे प्राप्त होता ही रहता है। जितने समय तक विश्रांति का फल होता है, उससे अधिक वह नहीं रह सकता इसके अनुसार मूढ़ योनियों का जन्म भी विशेष नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है कि आनन्दमय कोश को आत्मा मानने से नीच गति की प्राप्ति होती है।

शिष्य:-महाराज! मैं आनन्दमय कोश को आत्मा नहीं मानूंगा किंतु आत्मा का आनन्दमय कोश मानने में क्या हानि है? आपने प्रथम कहा है कि वह आत्मा के अति समीप है और आत्मा के आनन्द का प्रतिबिम्ब भी उसमें पड़ता है।

संत:-नहीं, आनन्दमय कोश को आत्मा का भी न मानना चाहिये। जो आपत्तियां उसको आत्मा मानने में होती हैं वे ही आत्मा का मानने में होती हैं। तेरे कहे समान मानने वाला कभी अज्ञान से मुक्त न होगा। आनन्दमय कोश को तुच्छ, अभाव मात्र, भ्रमात्मक, अवस्तु स्वरूप मानने से ही कल्याण होता है। आत्मा पवित्र, निर्मल, और सत्य है, आनन्दमय कोश अपवित्र, मलिन, और मिथ्या है। ऐसे विरुद्ध स्वभाव वालों का संबंध किस प्रकार हो सकता है? आत्मा अपनी महिमा में टिका है, आनन्दमय अज्ञान में टिका है। आत्मा का संबंधी तो वह हो ही क्या सकता है। यदि आत्मा उसकी गंध भी लेगा तो आत्म

भाव से रहित ही होगा। आनन्दमय कोश को अपना मानने वाले आत्मा को, आत्मा नहीं समझना चाहिये, वह तो आत्मा की आड़ में रहने वाला एक भूत ही है। उसको आत्मा की समीपता जो बताई थी वह और कोशों की दूरी निर्णय कराने को ही थी और आनन्द का प्रतिबिम्ब अविभक्त माया में पड़ा कहा था इसलिये उससे आत्मा का कुछ संबंध न हुआ क्योंकि आत्मा व्यापक है और जहां जहां अविभक्त माया होती है वहां वहां आत्मा का प्रतिबिम्ब स्वाभाविक होता है इसलिये वह संबंध वाला नहीं हुआ। जितना मैंने तुझे श्रवण कराया है उसको शुद्ध बुद्धि से श्रद्धा सहित विचार और निश्चय कर कि आनन्दमय कोश आत्मा नहीं है, आत्मा का भी नहीं है, आत्मा उससे पृथक् है और उसका प्रकाशक है।

इस प्रकार अवस्था सहित तीनों शरीर जिसमें पांच कोश हैं वे सब आत्मा से पृथक् हैं, आत्मा आत्मा ही है और इनसे भिन्न सब अनात्मा है ऐसा तू निश्चय कर। जिस प्रकार मूंज में से ऊपर के छिलके क्रम से अलग करके मध्य की सलाई का ग्रहण करते हैं इस प्रकार पांचों कोशों का बाध करके यानी ये नहीं है ऐसा समझ कर उसके आधार स्वरूप शेष रहा हुआ आत्मा है ऐसा निश्चय कर। पंच कोश का बाध पूर्वक आत्मा का ग्रहण करना पंच कोश विवेक है।

तीन अवस्थायें और आत्मा।

एक मुमुक्षु जो कुछ सत्संग करता था परन्तु विक्षेप दोष की अधिकता से उसे अनेक प्रकार की शंकायें हुआ करती थीं उसने एक समय विचार करके चौदह शंकायें लिख डाली और सद्गुरु के पास जाकर साष्टांग प्रणाम करने के बाद बोलाः—महाराज! मुझे आत्मा और शरीर की अवस्था में कई शंकायें होती हैं उनको मैं लिख लाया हूं आपकी आज्ञा हो तो सुनाऊं, मैं आपसे उनका उत्तर सुन कर अपना समाधान करना चाहता हूँ।

गुरुः—तू बड़ा ही चंचल बुद्धि है बहुत समय से मेरे पास आकर उपदेश श्रवण करता है, अब भी तेरी शंकायें नहीं जातीं? तू जो जो श्रवण करता है उसे यथार्थ धारण नहीं करता। समझ कर दृढ़ता से धारण कर। ठीक न समझ कर कुछ का कुछ से मिलान कर देने में ही शंकायें हुआ करती हैं। पढ़ तेरी शंकायें क्या हैं?

मनुष्यः—(१) सोता कौन है, स्वप्न कौन देखता है और जागता कौन है? (२) जो वह एक ही है तो स्वप्नावस्था में उसको इस बात की स्मृति क्यों नहीं रहती कि मैं वही हूं जो स्वप्न के प्रथम जागता था और अब स्वप्न देख रहा हूं। जागने पर उसे ऐसी स्मृति क्यों होती है कि मैं वही हूँ जो सोते समय स्वप्न देख रहा था? (३) यदि प्रत्येक अवस्था वाला भिन्न २ है तो जाग्रत अवस्था वाले का स्वप्नावस्था में और स्वप्नावस्था वाले का जाग्रत अवस्था में क्या होजाता

है ? (४) कोई कहते हैं कि स्वप्न सृष्टि स्वप्न द्रष्टा से भिन्न और जाग्रत सृष्टि से स्वतंत्र है तो उसका सृष्टा कौन है और स्वप्न में ऐसे चिह्न क्या हैं जो स्वप्न द्रष्टा को स्वप्नावस्था में स्वप्न और जाग्रत का भेद बतावें ? (५) सामान्यता से जानी हुई जाग्रत और स्वप्न सृष्टि के सिवाय क्या और भी कोई सृष्टि है कि जहां मरने के बाद गमन होता है और क्या कोई ऐसी भी सृष्टि है जो नित्य और अपरिवर्तन वाली हो ? (६) क्या एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि में खबर आ जा सकती है ? यदि ऐसा हो सकता है तो क्या स्वप्नावस्था का जीव जाग्रत सृष्टि के अपने मित्र से और जाग्रत सृष्टि का जीव स्वप्न सृष्टि के अपने मित्र से बात चीत कर सकता है ? (७) कोई कहते हैं कि जैसे स्वप्न सृष्टि मिथ्या है वैसे ही जाग्रत सृष्टि भी मिथ्या है तब पूछते हैं कि स्वप्न के मिथ्यापने का अनुभव जैसे उससे ऊंची जाग्रत अवस्था में होता है, इसी प्रकार जब जाग्रत के मिथ्यापने का अनुभव उससे ऊंची ज्ञान की अवस्था में होता है तब अपनी अपेक्षा से ऊंची अवस्था में वह (ज्ञान की अवस्था) भी स्वप्न क्यों न हो और इसी प्रकार उत्तरोत्तर अवस्थाओं में पूर्व २ अवस्थायें मिथ्या होती क्यों न चली जांय ? (८) क्या स्वप्न द्रष्टा को स्वप्नावस्था में यह बोध रहना सम्भव है कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ ? (९) यदि स्वप्न द्रष्टा स्वप्नावस्था में ऐसा जान जाय कि यह स्वप्न है तो क्या उसका स्वप्न देखना बन्द हो जायगा अथवा वह स्वप्न देखता ही रहेगा ? (१०) यदि कोई अपने स्वप्न को बन्द करना, बदलना, अथवा उत्पन्न करना चाहे तो क्या वह ऐसा कर सकता है ? ऐसा होता

हो तो उसका क्या यत्न है ? (११) सुषुप्ति अवस्था में 'यह मेरी सुषुप्ति है' क्या ऐसा बोध रहना संभव है ? (१२) शरीर की मृत्यु के बाद जीव को किस प्रकार का बोध रहता है, क्या वह जीता रहता है, और क्या वह जानता है कि मैं मर गया हूँ ? (१३) जाग्रत और स्वप्न सृष्टि के जीव अपनी २ सृष्टियों में अपने सृष्टा अथवा स्वप्न द्रष्टा को कैसे जान सकते हैं ? (१४) सब अवस्थाओं अर्थात् सब सृष्टियों में क्या कोई ऐसी अन्तिम सत्ता है जो नित्य, ज्ञान स्वरूप, और सर्व व्यापक हो और क्या किसी ऐसे उपाय से उसको जान सकते हैं जो सब जाति और सब मत वालों को माननीय हो और सब काल और सब देश के प्रत्येक मनुष्य के अनुकूल हो ?

दो:—तीन अवस्था, तीन गुण, तीन लोक विस्तार।
उनका द्रष्टा एक तू, तीनों ही से पार ॥ १ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थायें जीव की हैं। दूसरी रीति से कहा जाय तो अवस्थायें चिदाभास युक्त बुद्धि की हैं अथवा उन्हें जीवित शरीर की भी कह सकते हैं। तीनों अवस्थायें भिन्न २ हैं किंतु उनमें रहने वाला जीव भिन्न नहीं है। उपाधि के भेद से अवस्थाओं का भेद है और उपाधि के अभिमान से एक ही जीव तीन नामों से कहा जाता है। जिस समय जीव जाग्रत अवस्था में होता है तब विश्व कहलाता है, जब वह स्वप्नावस्था में होता है तब उसे तैजस् कहते हैं और जब वह सुषुप्ति में होता है तब उसका नाम प्राज्ञ होता है। जाग्रत अवस्था में

जीव बाहर के विश्व को देखता है इसलिये विश्व कहलाता है, स्वप्न में अपने तेज में ही त्रिपुटियों का अनुभव करता है इस-लिये तैजस् कहलाता है और सुषुप्ति में प्रपंच के अभाव को जानता है इसलिये प्राज्ञ कहलाता है। माया के तादात्म्य अध्यास-संसर्ग भ्रम से ये तीनों अवस्थायें जीव को अपने में अज्ञान से प्रतीत होती हैं। इन तीनों अवस्थाओं के भाव रहित चौथी अवस्था जीव का शुद्ध आत्म स्वरूप है। अवस्थायें होते हुए भी जीव का शुद्ध स्वरूप जो कूटस्थ है उसमें किसी प्रकार का विकार अथवा न्यूनता नहीं आती, वह तीनों अवस्थाओं में साक्षी रूप ज्यों का त्यों बना रहता है। मिथ्या माया के मिथ्या संबंध अज्ञान से ये तीनों अवस्थायें जीव में न होते हुए भी जीव की कहलाती हैं। यह अविद्या तीन प्रकार के भेद वाली है:-(१) अविभक्त (२) संस्कार भेद को प्राप्त हुई और (३) विभक्त भाव से विकसित होकर स्थूल रूप वाली। जहां किसी प्रकार का भेद न हो ऐसी अविभक्त अविद्या को कारण और पिछली दोनों प्रकार की अविद्या को कार्य अविद्या कहते हैं। कार्य अविद्या में प्रथम की सूक्ष्म और दूसरी स्थूल है। जब जीव कारण अविद्या की उपाधि युक्त होता है तब सुषुप्ति अवस्था होती है। वह ही कारण अविद्या कारण सहित जब कार्य में विभक्त संस्कार रूप होती है तब उससे युक्त जीव की स्वप्नावस्था कही जाती है और वहां से कारण और सूक्ष्म सहित जब स्थूल में विकसित होती है, तब उनसे युक्त जीव की जाग्रता-

वस्था होती है। सुषुप्ति कारण रूप है, स्वप्न सूक्ष्म रूप है और जाग्रत स्थूल रूप है।

सुषुप्ति अवस्था में सब प्रकार की पृथकता की एकता हो जाती है। वहां द्रष्टा, दर्शन दृश्य त्रिपुटी का अभाव हो जाता है, सब अपने कारण भाव को प्राप्त हो जाते हैं। बुद्धि सहित देखने वाला जीव भी वहां पृथक् भाव से नहीं रहता, जिस स्थूल शरीर में सुषुप्ति होती है वह शरीर जाग्रत सृष्टि में रहता है, कारण में लय नहीं होता क्योंकि वह स्थूल भोग के कारण इतना स्थूल है कि वह स्वरूप से कारण में लय नहीं हो सकता, मात्र इसका भाव ही कारण में लय होता है। स्वरूप से पदार्थ के लय न होने में अति स्थूलता ही कारण है। अविद्या परिणाम वाली है। जो परिणाम है, वह निवृत्त नहीं होता इसलिये कार्य रूप शरीर कारण में लय नही होता। स्वप्न का सूक्ष्म भाव इतने विकार को नहीं प्राप्त होता कि अपने कारण में न मिल सके इसलिये वह अपने कारण में मिल जाता है किन्तु फिर भी निर्बीज नहीं मिलता, बीज सहित मिलता है। सुषुप्ति में बुद्धि तथा स्मृति अपने कारण अज्ञान में दब जाती है, इसलिये इस अवस्था में किसी प्रकार का बोध और स्मृति नहीं होती, अपने और पराये किसी का भी बोध नहीं रहता जहां जड़ता के समान गाढ़ अज्ञान होता है वह सुषुप्ति कही जाती है और यदि जीव को स्वबोध रहे तो समाधि कहलाती है क्योंकि जीव को अपने बोध के लिये बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। अज्ञान के

दबाव से निकल जाना ही उसका स्वबोध है। समाधि को सुषुप्ति नहीं कह सकते क्योंकि समाधि स्वरूपमय है और सुषुप्ति अज्ञान-मय है, यह ही इन दोनों का अन्तर है। "यह मेरी सुषुप्ति है" ऐसा बोध हो जाने पर सुषुप्ति नहीं रहती क्योंकि ऐसा बोध होने पर वह अवस्था जाग्रत हो जाती है। सुषुप्ति में सुषुप्ति का बोध रहना असंभव है क्योंकि सुषुप्ति में दबा हुआ जीव पृथक् भाव रहित होता है, पृथक् भाव बिना सुषुप्ति को किस प्रकार जाने? इससे जाना जाता है कि बुद्धि भी वहां नहीं होती। सोने वाला, स्वप्न देखने वाला और जागने वाला एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं क्योंकि जो पृथक् हों तो जागने के पश्चात् "मैं गहरी नींद में सोता था, और स्वप्न देखता था और अब जागता हूँ" यह जो बोध होता है नहीं होना चाहिये। सुषुप्ति के अज्ञान का ज्ञान जाग्रत में होता है। जो सुषुप्ति में सब भाव निर्बीज हो गये होते तो सुषुप्ति से उत्थान न होता, उत्थान होता है इसलिये जाना जाता है कि सबीज एकता हुई थी। जागने वाला भी वही होता है जो सुषुप्ति से पहिले जागता था क्योंकि सुषुप्ति से जाग कर जो कार्य प्रथम अपूर्ण रक्खा था उसको पूर्ण करता है इसलिये सोने वाला ही जागता है, सोने वाला न रहता हो और दूसरा कोई जागता हो ऐसा नहीं होता; किन्तु एक ही जीव की तीनों अवस्थायें आविर्भाव और तिरोभाव रूप हैं। जाग्रत के आविर्भाव में स्वप्न और सुषुप्ति का, स्वप्न के आविर्भाव में जाग्रत और सुषुप्ति का, और सुषुप्ति के आविर्भाव में जाग्रत और स्वप्न का तिरोभाव हो जाता है। जब जाग्रत का आविर्भाव

होता है तब स्वप्न और सुषुप्ति की स्मृति रहती है, क्योंकि जाग्रत बुद्धिमें सूक्ष्म और कारणसहित पूर्ण विकसित होती है। स्वप्न के आविर्भाव में सुषुप्ति के अभाव की स्मृति-बुद्धि होती है क्योंकि स्वप्न में बुद्धि अर्धविकसित होती है और उसमें कारण सम्मिलित होती है। स्वप्न में जाग्रत की स्मृति नहीं रहती क्योंकि बुद्धि-स्मृति के विकसित भाव का तिरोभाव होता है, वह इस अवस्था में हटी हुई होती है। सुषुप्ति के आविर्भाव में किसी प्रकार की बुद्धि-स्मृति नहीं रहती। सुषुप्ति स्वयं अभाव रूप है और स्वप्न जाग्रत का अर्ध विकसित और विकसित बुद्धि-स्मृति का वहां तिरोभाव होता है इसलिये सुषुप्ति में अभाव के सिवाय और किसी प्रकार का बोध नहीं होता। सुषुप्ति का स्थान हृदय है।

किंचनसिंह नाम का एक सरदार एक समय समुद्र किनारे वन में घूम रहा था वहां उसने एक प्रकार का नाद सुना। "यह शब्द कहां से आ रहा है" यह जानने के लिये वह इधर उधर देखने लगा पर कोई मनुष्य अथवा पशु उसे दिखाई न दिया। एक स्थान पर टूटे फूटे शंख और उनके टुकड़े देख कर वह उन्हें एकाग्र चित्त होकर देखने लगा तो उनमें एक भारी शंख देख पड़ा जो और शंखों से बड़ा था। उसका मुख बड़ा था और जहां से बजाया जाता है वहां एक छोटा छिद्र था। मुख से वायु का प्रवेश हो कर छोटे छिद्र द्वारा वायु निकलने से शब्द होता था।

किंचनसिंह ने उस शंख को उठा लिया। जड पदार्थ को बोलता हुआ देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और आगे चला। मार्ग में उसे एक चक्र मिला वह भी सुन्दर था। किंचनसिंह ने उसे उठा कर शंख को उसके मध्य में रख दिया। शंख में से निकली हुई वायु लगने से चक्र घूमने लगा। चक्र को घूमता हुआ देखकर किंचनसिंह को बहुत ही आश्चर्य हुआ और उसे शंख सहित बच्चों के आनन्द के लिये घर ले आया। उसका एक छोटा बच्चा था, उसके खेलने की एक लकड़ी की खिलौना गाड़ी थी। किंचनसिंह ने विचार किया कि यदि इस चक्र को शंख सहित इस गाड़ी में जोड़ दिया जाय तो गाड़ी चलने लगेगी। यह विचार कर उसने वैसा ही किया। गाड़ी चलने लगी! गाड़ी को चलती हुई देख कर लड़के प्रसन्न हो गये।

इस दृष्टान्त के अनुसार तीनों अवस्थाओं और उनके अभिमानी जीव को समझना चाहिये। किंचनसिंह जीव है। शंख सुषुप्ति अवस्था है। शंख उठा लेना सुषुप्ति युक्त होना है। जिस प्रकार शंख में वायु आता जाता है इसी प्रकार सुषुप्ति में प्राण ही चलता है। शंख में चक्र मिलना स्वप्नावस्था है। जिस प्रकार चक्र अपनी धुरी पर ही घूमता है इसी प्रकार स्वप्नावस्था अपने में ही होती है, घूमती है। उस समय शंख रूप सुषुप्ति और चक्र रूप स्वप्नावस्था दोनों ही होती हैं इसलिये वहां सुषुप्ति की अबोध एकता और स्वप्न की पृथकता दोनों की स्मृति का संभव है परन्तु गाड़ी का अनुसन्धान न होने से उसकी स्मृति नहीं होती। जब

घर पर आकर लड़कों की खेलने की गाड़ी से चक्र और शंख को युक्त कर दिया जाता है तब गाड़ी का चलना रूप जाग्रत अवस्था स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था सहित है इसलिये वह तीनों की स्मृति वाली और बाहर घूमने वाली है। किंचनसिंह रूप जीव शंख रूप सुषुप्ति, चक्र रूप स्वप्न और गाड़ी रूप जाग्रत तीनों अवस्थाओं को देखता है तो भी तीनों से पृथक् रहता है। तीनों अवस्थायें जीव से युक्त हैं और जीव तीनों में एक ही है। ऐसा होते हुए भी यदि अज्ञान के कारण वह अपने को न जाने तो अज्ञानी है।

अथवा यों समझो कि एक व्यापारी अपने व्यापार के निमित्त १ रोकड़ २ खाता और ३ वार्षिक चिट्ठा—ऐसी तीन पुस्तकें रखता है। रोकड़ में दिन दिन का क्रम क्रम से हिसाब लिखा जाता है, खाते में खाते खाते की रकम लिखी जाती है, विस्तार नहीं होता और रोकड़ की तरह एक दिन के हिसाब के पश्चात् दूसरे दिन का हिसाब ऐसा भी नहीं होता, और वार्षिक चिट्ठे में कुछ भी नहीं होता केवल नफा या नुकसान एक ही रूप का होता है। रोकड़ जाग्रत के समान है, खाते में रकम चढ़ जाने पर भी उसमें दिन का क्रम नहीं रहता इसलिये वह स्वप्न के समान है, जिस समय जो खाता खोलते हैं उसी का बोध होता है। वार्षिक चिट्ठे में एक ही बोध होता है, इसलिये वह सुषुप्ति के समान है। जैसे रोकड़ में खाता और वार्षिक चिट्ठा सहित रोज रोज का विस्तीर्ण हिसाब होता है इसी प्रकार जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति की स्मृति सहित है, जो विशेषता रोकड़ में है वह खाते में नहीं है खाते में मात्र रकम

ही है किन्तु वह वार्षिक चिट्ठे सहित है इसी प्रकार स्वप्न में सुषुप्ति की स्मृति होती है और सुषुप्ति स्मृति रहित होती है, जैसे रोकड़, खाता, चिट्ठा व्यापारी के हैं, व्यापारी भिन्न है इसी प्रकार जीव रूप व्यापारी तीनों अवस्थाओं रूप पुस्तकों से भिन्न है और तीनों का द्रष्टा है।

स्वप्नावस्था कंठ में रहने वाली हिता नाम की एक नाड़ी में होती है। जाग्रत का देश काल विस्तीर्ण है और उसकी अपेक्षा स्वप्न का देश काल अल्प है। स्वप्नावस्था को संध्य कहते हैं। जाग्रत और सुषुप्ति को जोड़ने वाली–संध्य है। संधि से दोनों अवस्थायें एक दूसरे से मिलती हैं। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि स्मृति आदिक जो दबे होते हैं वे ही स्वप्न में होते हैं उनसे पृथक् नहीं होते। सुषुप्ति में बुद्धि बिलकुल दब जाती है और स्वप्न में कुछ विकसित होती है इसलिये स्वप्न में जो द्वैत दीखता है वह सुषुप्ति से पृथक् नहीं होता स्वप्न सृष्टि स्वप्न द्रष्टा से भिन्न नहीं है, स्वप्न का अभिमानी जो तैजस् है वह ही अपने तेज में द्रष्टा दर्शन और दृश्य त्रिपुटी रूप से होता है। स्वप्न के पदार्थ स्वप्न अवस्था में स्थूल दीखते हैं तो भी वे स्थूल पदार्थों की समान स्थूल नहीं होते क्योंकि वे अपंचीकृत भूतों के हैं और स्थूल पदार्थ पंचीकृत महाभूतों के हैं। स्वप्न में स्थूल पदार्थों के योग्य देश काल नहीं है।

स्वप्न द्रष्टा स्वप्न में शरीर से बाहर निकल कर स्थूल पदार्थों और देश को देखे ऐसा नहीं है क्योंकि एक मनुष्य जो स्वप्न में

आगरे से कलकत्ते जाता है और जब वह कलकत्ते में हो तभी जाग जाता है तो वह कलकत्ते में नहीं होता किंतु आगरे में ही जिस स्थान पर सोया था वहीं होता है। यदि वह कलकत्ते गया होता तो कलकत्ते ही में जागना चाहिये था। स्वप्न द्रष्टा स्वप्न में जिस अपने मित्र से बात चीत करता है, उससे जब जाग्रत में मिलता है तो मिलने का हाल उसके मित्र को मालूम नहीं होता इसलिये वह शरीर से बाहर जाकर अपने मित्र से नहीं मिला है किंतु मित्र का भाव रूप सूक्ष्म मित्र जो उसने अपने अंत:करण में रख छोड़ा है उसी से वह मिला है। स्वप्न में वह अपने भावना के चित्र को ही देखता है जो किसी प्रकार उसके अंत:करण में संस्कार रूप से विराजमान है। जिस प्रकार किसी एक मित्र का विचार करने से उस मित्र के मन में रहने वाला चित्र देखते हैं इसी प्रकार का वह चित्र है। स्वप्न में दीखने वाले संस्कार किसी प्रकार से अंत:कारण में पड़े हुए होते हैं, वे भूत, भविष्य अथवा वर्तमान के होने संभव हैं, सुने हुए, अनुभव किये हुए, स्मरण किये हुए अथवा प्राण द्वारा अज्ञात प्रवेश किये हुए होते हैं और शरीर के तत्वों की विक्रिया से भी उत्पन्न होते हैं। स्वप्न का संसार क्रम पूर्वक नहीं दीखता कभी कम, कभी अधिक और कभी विपर्य होता है। जाग्रत की अपेक्षा स्वप्न दृश्य शीघ्र गति वाला है कभी कभी किसी संस्कार का कुछ अंग और साथ ही दूसरे संस्कार का कुछ अंग प्रतीत होता है, इन दोनों का एक मिलान करने से विपर्य हो जाता है कभी न दीखे हुए भयंकर

दृश्य इस प्रकार दीखते हैं:-जैसे मनुष्य का धड़ और शेर का शिर अथवा स्वप्न द्रष्टा अपना ही शिर कटा हुआ देखता है परंतु जो कुछ वह अनुभव कर चुका है वह ही देखता है। एक का अंग दूसरे में मिला कर समझना ऐसा जो विपर्य है वह स्वप्न दोष से होता है इसलिये स्वप्न वासनामय होने पर भी छिन्न भिन्न और संबन्ध रहित दीखता है। जाग्रत की अपेक्षा स्वप्न मिथ्या है तो भी वह जाग्रत से सूक्ष्म सम्बन्ध वाला है। स्वप्न में भोजन करने से जाग्रत का स्थूल शरीर तृप्त नहीं होता किंतु वीर्य पतन स्वप्न में होने पर भी जाग्रत में दीखता है। स्वप्न का तीव्र भाव स्वप्न से स्थूल जाग्रत अवस्था वाले स्थूल शरीर में निकल आता है। कोई कोई स्वप्न में जो चेष्टा करता है स्थूल शरीर में भी उस समय वह चेष्टा होती है। इससे सिद्ध है कि जाग्रत वाला ही स्वप्न में होता है। स्वप्न स्वतंत्र अवस्था नहीं होने से उसका क्रम ठीक नहीं रहता। जाग्रत अवस्था जन्म से मरण पर्यन्त एक है और स्वप्नावस्था स्वप्न के आरम्भ से अंत तक एक होती है, और निद्रा दोष से सम्मिलित होती है। स्वप्न जाग्रत से स्वतंत्र नहीं है इसलिये जाग्रत सृष्टि के कर्ता सिवाय और कोई उसका कर्ता नहीं है। जाग्रत सृष्टि का समष्टि भाव ईश्वर जो वैश्वानर है उसकी सूक्ष्म समष्टि हिरण्यगर्भ है वह स्वप्न स्थान है। न तो स्वप्न सृष्टि स्वतन्त्र है और न वहां का जीव स्वतन्त्र है इसलिये स्वप्न सृष्टि के जीव को अपने बनाने वाले ईश्वर को जानने की आवश्यकता नहीं है वह अवस्था अपूर्ण है उसमें जीव अपने स्रष्टा को जान नहीं सकता। स्वप्नावस्था जाग्रत की अपेक्षा से भी

माया मात्र कहलाती है। कभी कभी वह जाग्रत के भविष्य की सूचक होती है क्योंकि भविष्य संस्कार भी उसमें होते हैं। स्वप्न जीव जिसका स्वप्न है उससे उसकी जाग्रत भिन्न नहीं होती। प्रत्येक जीव की तीनों अवस्थायें होती हैं किन्तु अपने उत्पन्न करने वाले को जाग्रत में ही जान सकते हैं और विशेष करके मनुष्य जन्म में ही शुद्ध अन्तःकरण से प्रयत्न करके जान सकते हैं और यथार्थ जानने के समय जाग्रतादि सब अवस्थाओं के दबाव को छोड़ दिया जाता है। स्वप्न द्रष्टा की सृष्टि मनुष्य के एक शरीर के समान समझो। उसमें जो २ पदार्थ जीव देखता है वे उस जीव के अंग उपांग ही हैं, जैसे एक मनुष्य के हाथ, पैर, नाक, कान, नेत्र इत्यादि। सब को अपने कर्ता को जानने की आवश्यकता नहीं है परन्तु जिसका शरीर कहा जाता है वह ही जाग्रतावस्था में सृष्टा को जानने का प्रयत्न कर सकता है। स्वप्नावस्था में रहने वाली बुद्धि वहां के ही पदार्थों और क्रियाओं के जानने योग्य है और स्मृति भी उन्हीं के ग्रहण करने योग्य है विशेष नहीं ग्रहण कर सकती, इसलिये अपूर्ण बुद्धि सृष्टा के बोध का आरम्भ करने में अयोग्य होती है। स्वप्न के शरीर इन्द्रियादिक स्थूल नहीं होते, विकसित नहीं होते, वहां जाग्रत के समान स्थूल पदार्थ दीखने का कारण यह है कि वहां द्रष्टा भी उसी भाव का बना होता है इसलिये वह सूक्ष्म को नहीं पहचान सकता। एक ही समान सब होने से वहां स्थूल ही दीखता है। जो जाग्रत की स्मृति वहां हो तो जाग्रत से वह सूक्ष्म है ऐसा हो सके, परन्तु जाग्रत

का वहां अभाव है, इसी कारण से 'यह मेरी स्वप्नावस्था है' ऐसा जानना स्वप्नावस्था में नहीं बनता। ऐसा जाना जाय तो स्वप्न देखना बन्द हो जायगा। जब वह ऐसा जानता है तब स्वप्न नहीं रहता, जाग्रत में आकर ही वह ऐसा जानता है। स्वप्न जाग्रत के अनुसंधान रहित ही होता है। यदि स्वप्न संस्कारों के साथ "यह स्वप्न है" कोई ऐसा संस्कार उत्पन्न हो तो उसे स्वप्न में ही ऐसा बोध होता है, स्वप्न से जाग्रत हो कर नहीं होता और जब तक वह ठीक जाग्रत न होगा तब तक स्वप्न बन्द न होगा। "यह स्वप्न है" ऐसा जो किंचित् बोध होता है वह स्वप्न दोष से ही होता है इसलिये वह स्वप्न का ही दृश्य है। वास्तविक रीति से वह स्वप्न को नहीं जानता। स्वप्नावस्था में रह कर "यह स्वप्न है" ऐसा जानने का कोई उपाय नहीं है। अर्ध विकसित और विकसित इस प्रकार दो बुद्धियां एक समय में नहीं होतीं। एक ही बुद्धि की ये दो प्रकार की स्थितियां हैं।

यदि जाग्रत का जीव और स्वप्न का जीव भिन्न भिन्न हों तो दो बुद्धियां हो सकें किंतु ऐसा नहीं है। स्वप्नावस्था में जाग्रत का अनुसंधान-स्मृति न रहने से ही आत्मा का असंगपना सिद्ध होता है। यदि आत्मा संगी होता तो बुद्धि की अर्ध विकास और पूर्ण विकास वाली अवस्थाओं का बोध स्वप्न में रख सकता किंतु असंग होने से वह बुद्धि का बोध नहीं रखता। जैसे स्फटिक मणि के ऊपर रक्खे हुए गुड़हर के पुष्प की लाली स्फटिक में दीखती है यद्यपि स्फटिक लाली का संग नहीं करता। जैसे स्फटिक में असंग होने

के कारण पुष्प हटा लेने से किंचित् भी लाली नहीं रहती इसी प्रकार आत्मा असंग होने से ज्ञान स्वरूप होने पर भी जाग्रत का ज्ञान स्वप्न में नहीं रखता। आत्मा साक्षात् प्रपंच का ज्ञान नहीं रखता किंतु बुद्धि के द्वारा प्रपंच का ज्ञान करने वाला है। स्वप्न में बुद्धि अर्ध विकास वाली होने से स्वयं जाग्रत का ज्ञान नहीं रख सकती और आत्मा असंग है तब स्वप्न में स्वप्न और जाग्रत का भेद कौन दिखावे?

स्वप्न में जाग्रत के समान इच्छानुसार कोई वर्त नहीं सकता, न स्वप्न को बदल अथवा बन्द कर सकता है, क्योंकि जाग्रत से वह अल्प है, उसमें बुद्धि विकसित नहीं होती, मात्र सूक्ष्म भोग के निमित्त होती हैं, भोगोत्पादक नहीं होती। इस प्रकार जाग्रत और स्वप्न दो सृष्टियां नहीं हैं, एक ही सृष्टि की दो अवस्थायें हैं। जो कोई भयंकर स्वप्न को बदलना चाहे तो उसका उपाय जाग्रत में कर सकता है क्योंकि स्वप्न जाग्रत की ही छाया है।

स्वप्न सृष्टि जाग्रत सृष्टि के जीव से भिन्न नहीं है इसलिये आपस में बात चीत करना असंभव है, स्वप्न और जाग्रत एक ही पुरुष की दो अवस्थायें हैं। दो अवस्था के दो होकर एक समय में मिल नहीं सकते, फिर बात चीत किस प्रकार कर सकते हैं? एक ही पुरुष जो एक का पिता है और दूसरे का पुत्र है वह एक ही होने से बिना पुत्र किस प्रकार बात करे?

एक बनियां है। वह लेन देन का व्यापार करता है। लोग बहुत सी वस्तुयें उसके पास गिरवीं रखते हैं। गिरवीं रक्खी हुई

वस्तुओं से भरे हुए वाक्स एक अंधेरी कोठरी में रक्खे रहते हैं। कोठरी बंद रहती है। जो जो चीजें धरोहर रक्खी जाती हैं उनको वह ही जानता है, कोई कोई वस्तु बहुत पुरानी होने से उसे स्वयं याद नहीं रहतीं। वनियां सब के सामने वस्तुयें खोलकर देखना नहीं चाहता। कभी कभी जब जरूरत होती है तब रात्रि के समय जब सब सो जाते हैं तब कोठरी में जाकर बाक्सों को खोलकर देखता है, । "मेरी वस्तुयें घर वाले जान न जांय, घर में से कोई आ न जाय" इस डर से घबराता हुआ वस्तुओं को देखता है। घबराहट के कारण स्थिर चित्त से वस्तुओं को नहीं देखता। किसी का एक अंग देख लेता है और अनुमान से उसका रूप मन में समझ लेता है, समझने में भूल भी हो जाती है, विपर्य हो जाता है। इस प्रकार देखना जीव रूप व्यापारी का स्वप्न है। संस्कार रूप वस्तुयें हैं। अंतःकरण रूप कोठरी है। स्थूल इन्द्रियां आदिक घर के मनुष्य हैं। इन्द्रियां सो जाती हैं तब जीव स्वप्न देखता है।

अथवा यों समझो कि बिजली से चलने वाला एक पंखा है। जब वह बहुत तेज चलता है तब उसके पत्ते अलग अलग नहीं दीखते, एक ही चक्र हो इस प्रकार दीखते हैं। जब पंखा कुछ मंद हो जाता है तब पत्ते अस्पष्ट दीखते हैं और जब बहुत ही मंद पड़ जाता है या ठहर जाता है तब स्पष्ट रूप से एक एक पत्ते की संपूर्ण आकृति दीखती है। माया चक्र रूप है। चक्र का तेजी से घूमना तमोगुण की सुषुप्ति अवस्था है, मंदता से घूमना रजोगुण

की स्वप्नावस्था है और बहुत मंद घूमना सतोगुण की जाग्रतावस्था है।

जाग्रत अवस्था में जितने कार्य होते हैं वे कारण में से सूक्ष्म और स्थूल में आकर होते हैं। जाग्रत में भोग और नये संस्कारों की उत्पत्ति दो वस्तुयें होती हैं। उनमें प्रथम को प्रारब्ध और दूसरी को आगामी कर्म कहते हैं। स्थूल शरीर के सहारे से भोग भोगने के समय आसक्तियुक्त जो भाव होता है वह ही संस्कार रूप होता है, जो आगे होने वाले भोग का हेतु होता है। जीव जीव प्रति अपनी अपनी सृष्टियों की भी गिनती नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्य का व्यवहार उसकी सृष्टि में ही होता है अन्य की सृष्टि में उसकी सृष्टि का व्यवहार नहीं हो सकता। अपनी सृष्टि अपने अज्ञान में और दूसरे की दूसरे के अज्ञान में है। सृष्टि वस्तु स्वरूप नहीं है परब्रह्म ही वस्तु रूप है उसमें सृष्टि का अभाव है। जड़ चैतन्य की ग्रन्थि अज्ञान है। उन दोनों की ग्रन्थि होना असम्भव है। ग्रन्थि न होते हुए भी ग्रन्थि मानना अज्ञान है। अज्ञान कारण रूप से एक होने पर भी कार्य रूप में भिन्न भिन्न है। कार्य अज्ञान के हेतु, फल, आश्रय, और अवलम्बन भिन्न भिन्न हैं इसलिये वासनायें भी भिन्न भिन्न हैं। वासनाओं के अनुसार सृष्टियां भिन्न भिन्न हैं। कार्य अज्ञान एक नहीं है इसलिये एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि में व्यवहार नहीं होता। जीव की सृष्टि जाग्रत ही है, स्वप्नावस्था उसकी सृष्टि नहीं है और स्वतन्त्र भी नहीं है वह जाग्रत का मात्र अस्पष्ट रूप है। जाग्रत में स्वप्न और सुषुप्ति सम्मिलित हैं

इसलिये दोनों की स्मृति सहित जाग्रत में व्यवहार होता है। जो जो चेष्टा होती है उसकी उत्पत्ति का स्थान कारण अंश है, उसका संकल्प सूक्ष्म अंश है और चेष्टा स्थूल अंश है इसलिये जाग्रत में तीनों प्रकार की चेष्टा होती हैं। स्वप्न में स्थूल शरीर से चेष्टा होती दीखती है किन्तु वह चेष्टा जाग्रत के स्थूल शरीर से नहीं होती। स्वप्न ग्रामोफोन के समान परतंत्र है जिस स्थान पर सुई घूमती है उसी की आवाज निकलती है, जाग्रत में इच्छानुसार बात चीत करना बन सकता है, स्वप्न में ऐसा नहीं हो सकता। जाग्रत में रह कर अपने स्वप्न पुरुष से अथवा अन्य के स्वप्न द्रष्टा या स्वप्न पुरुष से बात चीत नहीं होती। अपनी जाग्रत अवस्था से अपनी स्वप्न सृष्टि भिन्न और स्वतन्त्र नहीं है इसलिये बात चीत नहीं हो सकती और दूसरे की स्वप्न सृष्टि दूसरे की जाग्रत–अज्ञान की होने से उस सृष्टि में जाना नहीं होता। जाग्रत अवस्था में भी प्रत्येक मनुष्य अपनी सृष्टि में ही व्यवहार करता है। दूसरा मनुष्य उसमें व्यवहार करता दीखता है परन्तु दूसरे का व्यवहार उसी की सृष्टि में होता है। जाग्रत में हम जब दूसरे से व्यवहार करते हैं तब दूसरा हमारी सृष्टि का होता है और जब दूसरा हमसे व्यवहार करता है तब हम उसके लिये उसकी सृष्टि के होते हैं। चक्र के समान अनन्त सृष्टियां एक दूसरी पर पड़ी हुई हैं। जब एक चक्र का दूसरे चक्र से मिलान होता है तब उस स्थान पर दोनों सृष्टियां आपस में समान होती हैं। अवस्था, स्थिति, देश कालादिक जब समान होते हैं तब आपस में क्रिया होती है। जब एक मार्ग में हम

दूसरे से मिलते हैं तब बात चीत आदिक व्यवहार होता है फिर भी व्यवहार अपनी सृष्टि में ही होता है। स्वर्ग नरकादिक जो लोक हैं वे भिन्न सृष्टियां नहीं हैं, जीव सृष्टि के ही उत्तरोत्तर उच्च नीच भोग स्थान हैं। हर एक की अपनी अपनी सृष्टि का ही उच्च नीच भाव में परिवर्तन होता रहता है, कोई अपनी सृष्टि से निकलकर दूसरे को सृष्टि में नहीं जाता। जब तक अज्ञान संपूर्ण रीति से निवृत्त नहीं होता तब तक जीव अपनी सृष्टि में अनेक भाव से घूमा ही करता है।

जाग्रत अवस्था में जीव का स्थान नेत्र कहा है। बाहर की तरफ देखने वाले होने से नेत्र ही जीव के अज्ञान की पूर्ण अवस्था है। इस अवस्था में किये हुए कर्मों का ही फल मिलता है। स्वप्न की अस्पष्ट अवस्था में किये हुए कर्मों का फल नहीं मिलता क्योंकि वह स्वयं सूक्ष्म फल स्वरूप है और उसमें कर्तृत्व नहीं है। देवता, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जितने जीव हैं उन सबकी तीन ही अवस्थायें होती हैं। सब जीव तीनों गुणों से युक्त होते हैं, उनको जाग्रत अवस्था में ही जीव कह सकते हैं। जाग्रत अवस्था पूर्ण होने से और उसमें स्वप्न और सुषुप्ति की स्मृति रहने से 'यह मेरी जाग्रत अवस्था है' इस प्रकार जीव जान सकता है। जाग्रत में सहायता देने वाली स्वप्न और सुषुप्ति हैं। कोई जीव माया से रहित नहीं है इसलिये माया की अवस्थाओं से भी रहित नहीं है। सृष्टियां तीन गुण वाली हैं, कोई सृष्टि इन तीनों गुणों से

रहित नहीं है। तीनों गुणों से रहित परम-पद है जो जीव का शुद्ध अपरिवर्तन वाला नित्य स्वरूप है। ज्ञान, ध्यान, भक्ति, यज्ञ, तप आदि शुभ कर्मों और अशुभ कर्मों की उत्पत्ति भूमि और पूर्व किये कर्मों की भोग भूमि जाग्रत अवस्था है। स्वप्न का भोग सूक्ष्म है। स्वप्न जाग्रत की छाया है इसलिये स्वप्न का भोग भी जाग्रत का ही है। स्थूल शरीर पंचीकृत पंचमहाभूतों का बना हुआ है। जब काम करते करते थक जाता है तब वह अपने और स्थूल इन्द्रियों को विश्रान्ति देने के लिये स्वप्न-सूक्ष्म में जाता है। वहां अंतःकरण काम करता रहता है। जब वह भी थक जाता है तब सुषुप्ति में जाकर विश्रान्ति लेता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर को विश्रान्ति लेने की आवश्यकता है जो विश्रान्ति न मिले तो वे दोनों ही आरोग्य न रहें। उनमें स्थूल मुख्य है क्योंकि जैसा अन्न खाया जाता है वैसी ही डकार आती है। जाग्रत के व्यवहार का स्वप्न डकार रूप है। खाना जाग्रत में होता है। खाना या न खाना इच्छानुसार है परन्तु खाने के पीछे डकार इच्छानुसार नहीं आती, इच्छा हो या न हो डकार आवेगी ही।

एक फैले हुए वृक्ष के समान जीव की सृष्टि है। वृक्ष जड़ शाखाओं के लिये नहीं होता परन्तु फल के निमित्त होता है। फल में बीज होता है फल भोग है बीज आगे के लिये है इसी प्रकार जाग्रत अवस्था को समझो। जड़ सुषुप्ति है, शाखा स्वप्न है और जाग्रत फल है। जिस प्रकार सब की उत्पत्ति, वृद्धि और नाश तीन अवस्थायें हैं इसी प्रकार सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत

अवस्थायें हैं। जब तक ज्ञान न हो तब तक जाग्रत ही बारंबार जन्म मरण का हेतु होती है।

जिस प्रकार एक बाक्स में कपड़े रक्खे हुए हों जब कपड़ों की तह करके बाक्स में बन्द करते हैं तब सुषुप्ति है, बाक्स खोलने पर कपड़ों की तह मालूम होना स्वप्न है और कपड़े खोल कर उपयोग में लाना जाग्रत अवस्था है।

बुद्धि के तीन प्रकार के भेद करके बुद्धि के साथ भ्रमात्मक सम्बन्ध होने से बुद्धि की अवस्थायें जीव की कहलाती हैं।

अवस्थाओं का कोष्ठक।

अवस्था	जाग्रत	स्वप्न	सुषुप्ति
शरीर	स्थूल	सूक्ष्म	कारण
स्थान	नेत्र	कण्ठ	हृदय
अभिमानी	विश्व	तैजस	प्राज्ञ
भोग	स्थूल	सूक्ष्म	आनन्द
कर्तव्य	संस्कार की उत्पत्ति	कचित् भविष्य सूचक	अभाव
दृष्टि	बाह्य	मध्य	आन्तर
स्मृति	जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति	स्वप्न, सुषुप्ति	सुषुप्ति
दोष	अविद्या, काम, कर्म	अविद्या, काम	अविद्या

जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर, नेत्र स्थान, अभिमानी जीव विश्व, भोग स्थूल, नये संस्कारों की उत्पत्ति रूप कर्तव्य, बाह्य दृष्टि, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों की स्मृति और दोष अविद्या काम, कर्म हैं।

स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर, कंठ स्थान, अभिमानी जीव तैजस, सूक्ष्म भोग, कचित भविष्य सूचक कर्तव्य, मध्य दृष्टि (हिता नाड़ी में), स्वप्न और सुषुप्ति की स्मृति और अविद्या और काम दोष हैं।

सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर, स्थान हृदय, (पुरीतित नाड़ी) अभिमानी जीव प्राज्ञ, भोग आनन्द, कर्तव्य का अभाव, आंतर दृष्टि, स्मृति द्वैत की अप्रतीति और अविद्या दोष है।

कोई कोई मूर्छा को भी अवस्था कहते हैं परंतु वह स्वतंत्र और स्वाभाविक अवस्था नहीं है, सुषुप्ति में ही उसका अंतर-भाव है। मरण मूर्छा और जीवित मूर्छा दो प्रकार की मूर्छा हैं, जिस मूर्छा के पीछे शरीर चेष्टा वाला हो जाय वह जीवित मूर्छा है और जिसके पीछे शरीर फिर चेष्टा को प्राप्त न हो उसको मरण मूर्छा कहते हैं। मूर्छा को अर्ध सुषुप्ति तुल्य कहते हैं इस-लिये अवस्थायें तीन ही हैं।

सामान्य लोगों से योगी विशेष सामर्थ्य वाले होते हैं, यह सामर्थ्य योग सिद्धि है। योगियों को इन सिद्धियों की प्राप्ति जाग्रत अवस्था में ही होती है। यदि कोई योगी अपने सूक्ष्म में

रहने वाले पूर्व संस्कारों को जानना चाहे तो जाग्रत में टिक कर, जाग्रत के अनुसंधान-स्मृति को शिथिल करके और सूक्ष्म के लक्ष्य से संयम करके जान सकता है। उसकी यह अवस्था स्वप्न नहीं है किंतु सूक्ष्म भाव वाली जाग्रत ही है। स्वप्न तो जाग्रत की स्मृति रहित ही होता है। योगी भी स्वप्न में स्वेच्छानुसार नहीं वर्त सकता और अन्य स्वप्न द्रष्टा या स्वप्न जीव को स्वप्नावस्था में प्रेरणा भी नहीं कर सकता क्योंकि स्वप्न में योगी के चित्त के अवलंबन का विषय अन्य पुरुष का चित्त नहीं हो सकता। जो कुछ योगी कर सकता है जाग्रत के सहारे से ही कर सकता है। यदि जाग्रत में प्रेरित किये हुए संस्कार अन्य पुरुष की जाग्रत अवस्था में उसके सूक्ष्म में टिक जांय और संयोग वश स्वप्न में उदय हो आवें तो ऐसा होना संभव है किंतु स्वप्नावस्था में किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं हो सकती।

यदि किसी को भयंकर स्वप्न आते हों और वह उनसे घबराता हो और बंद करना चाहे तो उन्हें स्वप्नावस्था को किसी क्रिया से बन्द नहीं कर सकता किंतु उसका जो कुछ उपाय कर सकता है वह जाग्रत में ही कर सकता है क्योंकि स्वप्नावस्था जाग्रत की ही क्रम रहित अस्पष्ट छाया है। यदि कोई मनुष्य जाग्रत में भयंकर स्वप्न के विरुद्ध भाव के संस्कारों को दृढ़ीभूत करे तो उनकी प्रबलता से भयंकर स्वप्न का दृश्य बदल सकता है। जाग्रत में किसी औषधि का प्रयोग करने से अथवा अन्य बाह्योपचार करने से अपने भयंकर स्वप्न को मिटा कर शान्ति

से सो सकते हैं। यदि ऐसा दृढ़ भाव किया जाय कि भय के समय सचेत हो जांय तो स्वप्न देखने पर सचेत हो सकते हैं। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अमुक प्रकार का स्वप्न देखना चाहे तो उसके निमित्त भी इस भाव को जाग्रत में ही दृढ़ करना संभव है कि उस प्रकार का संपूर्ण दृश्य अथवा उसका कुछ अंश अनियमितता से स्वप्न में देखे। सारांश यह है कि संस्कारों का बदलना जाग्रत में ही हो सकता है क्योंकि जाग्रत ही पूर्णावस्था है इसलिये उसमें की हुई बदली सूक्ष्म में होना संभव है।

मरना सबको बुरा लगता है। मरने की चोट बहुत वेग वाली होती है इसलिये मरने के संस्कार सूक्ष्म में दृढ़ता से पड़ जाते हैं। स्थूल शरीर की मृत्यु के समय मरण मूर्छा होती है उसमें से भावी कारण देह में से सूक्ष्म शरीर में भान आता है और जितने सूक्ष्म संस्कार हैं उन सबका वहां उद्भव होता है। उसमें पड़े हुए मरण संस्कार भी निकलते हैं और जीव को बोध होता है कि उसके शरीर की मृत्यु हुई है-स्थूल शरीर छूट गया है। यह बोध स्वप्न में होने वाले बोध से मिलता हुआ विलक्षण प्रकार का होता है। स्वप्न का बोध निद्रा दोष से होता है। यह बोध निद्रादोष से नहीं होता। जीव अपने को मरा हुआ नहीं जानता क्योंकि जीव संस्कारों से संमिलित भाव का है। जब तक संस्कारों की संपूर्ण निवृत्ति नहीं होती तब तक जीव जीता है, जीव की सृष्टि निवृत्त नहीं होती। शरीर से मर कर वह दूसरी सृष्टि में नहीं जाता किंतु अपनी ही सृष्टि में रूपांतर को प्राप्त होता है।

चौथी अवस्था जो तुरीय नाम से कही जाती है वह अवस्था नहीं है, परमपद है। जब तक शरीर की प्रतीति होती है तब तक कैवल्य परम पद से भेद वाली, मायिक तीनों अवस्थाओं से परे चौथी अवस्था समझने के लिये बताई गई है। तीनों अवस्थायें मिल कर एक सृष्टि है, इन तीनों को छोड़ कर कोई सृष्टि नहीं है। तीनों अवस्थायें माया की हैं और माया की भ्रांति में हैं। तुरीय माया में दीखती है किन्तु भ्रांति में नहीं है, माया के शेष संस्कार की स्थूलता में होते हुए परमपद की स्थिति रूप है। तुरीय वाला ही ज्ञानी और जीवन्मुक्त है। मायिक तीनों अवस्थायें एक दूसरे को हटा कर प्राप्त होती हैं किंतु तुरीय किसी को नहीं हटाती। गौण भाव से तीनों उसमें वर्तती हैं। तुरीय अखंडित है। संसारी जीव हर एक अवस्था से दब जाता है, तुरीय वाला जीवन्मुक्त किसी अवस्था में नहीं दबता। तुरीय आत्मस्थिति रूप अलौकिक है और तीनों से विलक्षण है। उसका किसी अवस्था से विरोध भी नहीं है। आत्मा सामान्य व्यापक रूप से किसी का विरोधी नहीं है। अन्य प्राणियों के समान ज्ञानी के दृश्य शरीर की भी तीनों अवस्थायें होती हैं। जैसे अज्ञानी तीनों अवस्थाओं में सुख दुःख का अनुभव करता है वैसे ज्ञानी विशेष आंतारिक भाव से उनको ग्रहण नहीं करता किंतु पद्मपत्र की समान निर्लेप रहता है। जैसे कमल का पत्ता जल में रह कर भी जल के ऊपर रहने से जल का स्पर्श नहीं करता इसी प्रकार ज्ञानी संसार में रह कर भी संसार से उच्च भाव में स्थित होने के कारण संसार के सुख दुःख से भिन्न रहता है। जैसे किसी

बड़ी नदी में दो मनुष्य पड़े हों, उनमें से एक को तैरना आता है दूसरे को नहीं आता। तैरना न जानने वाला सचमुच ही डुबकी खाता और ऊपर आता है। तैरने वाला भी डूबने वाले के समान ही डुबकी लगाता है और फिर ऊपर आ जाता है। डूबने वाले को दुःख होता है क्योंकि "मैं डूब रहा हूं" ऐसा वह मानता है। तैरने वाले को दुःख नहीं होता। "मैं तैर रहा हूँ" ऐसा समझ कर वह आनन्द में रहता है। इसी प्रकार संसारी अज्ञानी और तुरीय स्थित—ज्ञानी—जीवन्मुक्त का भेद समझो। दोनों ही संसार में रहते हैं। दोनों ही प्रारब्धानुसार ऊंच नीच, रंक श्रीमान् आदिक होते हैं। दोनों की चेष्टा समान दीखती है किंतु दोनों के भाव में महान् अंतर है। एक का बंधनका भाव है, दूसरा मुक्त है। ज्ञानी शरीर होने पर भी मुक्त ही है। शरीर जन्म मरण का हेतु नहीं है, उसके साथ रहने वाला अज्ञान ही जन्म मरण आदि दुःख का हेतु है। जब ज्ञानी उस अज्ञान से निवृत्त होता है तब शरीर होने पर भी शरीराध्यास—देहाभिमान रहित होता है इसलिये ब्रह्म स्वरूप है। कैवल्य में उसको तब तक ही विलम्ब है जब तक प्रारब्धवेग समाप्त नहीं होता। ज्ञानी की स्थिति जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त के भाव से रहित होती है उसका कैवल्य होना भोग दृष्टि से अव-शेष है। "मेरा कैवल्य होने वाला है" ज्ञानी को ऐसा भाव नहीं होता। उसके कैवल्य के लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता। वह कृतकृत्य है।

मुमुक्षुओं के उपदेश के निमित्त वेदान्ताचार्यों ने सत्ता के तीन भेद किये हैं १ प्रातिभासिक २ व्यवहारिक और ३ पार-

मार्थिक सत्ता। व्यवहारिक सत्ता की अपेक्षा प्रातिभासिक सत्ता भ्रम है। जैसे रज्जु में सर्प, मरुस्थल में जल और स्वप्न सृष्टि इत्यादि। जिस वस्तु और उसके ज्ञान का व्यवहारिक शुद्ध स्थिति में बाध हो जाय वह प्रातिभासिक सत्ता है। व्यवहारिक सत्ता पारमार्थिक सत्ता में भ्रम रूप है। जिस वस्तु और उसके ज्ञान को सब संसारी एक ही प्रकार से जानते हैं और व्यवहारिक अवस्था में जिसका बाध नहीं होता वह व्यवहारिक सत्ता है जैसे जाग्रत का स्थूल जगत् और उसके पदार्थ। पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म स्वरूप है। उसका किसी से बाध नहीं होता। प्रातिभासिक और व्यवहारिक सत्ता होते हुए भी पारमार्थिक सत्ता वस्तु रूप से कहीं नहीं जाती। अज्ञान के कारण व्यवहारिकों को और अज्ञान में भ्रम के कारण प्रातिभासिकों को पारमार्थिक सत्ता मालूम नहीं होती तो भी सबका आधार होने से वह रहती ही है। यह अंतिम सत्य सत्ता अपरिवर्तन वाली है, उसको झूठ ठहराने वाली और कोई सत्ता नहीं है। वह अनाद्यंत तत्त्व है, वह ही आत्मा है। आत्म तत्त्व सृष्टि नहीं है इसलिये उस ज्ञान स्वरूप को कोई उच्च सत्ता या अवस्था आ कर झूठो नहीं कर सकती। यह सत्ता सर्व व्यापक है उसके हटने के लिये स्थान नहीं है न दूसरे में उसे हटाने की सामर्थ्य है। यह पूर्ण ज्ञान की अवस्था वस्तु स्वरूप होने से त्रिकालाबाधित है। स्वप्न और जाग्रत मायिक कल्पना स्वरूप हैं, उन दोनों का वस्तु स्वरूप आत्मा से बाध हो जाता है। स्वप्न और जाग्रत की प्रातिभासिक और व्यवहारिक सत्ता माया में होने से देश काल और वस्तु से

परिच्छेद वाला है इसलिये प्रातिभासिक व्यवहारिक में और व्यवहारिक वस्तु स्वरूप में बाध–तुच्छ–झूठ हो जाती है। आत्म तत्त्व ही सबके टिकने का अंतिम स्थान है। यह तत्त्व सब देश में, सब काल में, सब मतों–मजहबों में और सब जातियों में माननीय है। यह हर एक का अविरुद्ध अपना आप है।

जगत् के बनाने वाले को जानना, उसकी प्रसन्नता के लिये उसकी भक्ति करना अथवा ईश्वर कोई नहीं है एक क़ुदरत ही है, इन तीन बातों में जगत् के सब मजहबों का समावेश होता है ये तीनों थोड़े अंतर सहित वेद के तीन अंश ज्ञान, उपासना और कर्म हैं। जगत् के कर्ता को जानना ज्ञान, ईश्वर की भक्ति करना उपासना और अपने हित के लिये–सुख के लिये मजहब के अनुसार आचरण करना, एक क़ुदरत मानना कर्म है। सुख सब चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। ऐसा सुख क्या है? किस में है? यह न जान कर भी जिसमें दुःख न हो उसकी तरफ जाने की सबकी प्रवृत्ति है। स्वर्ग, मुक्ति, परमपद आदिक उस (सुख) के नाम रक्खे हैं। कोई कोई मजहब वाले शरीर के नाश के पीछे उपरोक्त दैवी सुख के होने का अनुमान करते हैं और कोई कोई कहते हैं कि वह सुख यहीं प्राप्त होता है। जिस प्रकार इन्श्योरेंस कम्पनी में से मरने के पीछे किसी किसी को दाम मिलते हैं और किसी किसी को जीते जी ही मिल जाते हैं। कैसे भी हो सुख सबको प्रिय है और सब मजहबों को मान्य है। लौकिक नीति सब मजहब मानते हैं। यद्यपि नीति में भाव

का और संकुचित, विकसितपने का कई अंश में अंतर है। जिस प्रकार सब नदियां भिन्न भिन्न देश से आकर, अनेक देश और वनस्पतियों का संग करती हुई अंत में समुद्र में मिल जाती हैं, समुद्र ही सब नदियों का उत्पत्ति और लय स्थान है इसी प्रकार एक वेदान्त ही अपने में सब को मिला लेता है। उसका किसी से विरोध नहीं है। वह सब की स्थिति अनुसार सब को मानता हुआ अन्तिम तत्त्व से सब को अपने में लय करता है। एक मजहब सच्चा और दूसरा झूठा इस प्रकार का भाव द्वैत में होता है। वेदान्त अद्वैत लक्ष का है। जब वह पारमार्थिक लक्ष से सब को एक ही समझता है तब वह किसी की निन्दा किसी की स्तुति किस प्रकार करे? वेदान्त सब मजहबों को अपना अंग उपांग समझता है। अपने अंग उपांग जैसे विशेष और न्यून महत्त्व वाले होने पर भी कोई उनकी स्तुति या निन्दा नहीं करता इसी प्रकार उसको सब मजहब समान हैं। ज्ञानी तत्त्वमें स्थित होकर अपनी अद्वैत प्रतिपादक प्रक्रियाओं को भी अन्य मजहबों के समान द्वैत में ही समझता है। वेदान्त उस तत्त्व का बना हुआ है जो सब मजहब वालों को अन्तिम रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। अमुक धर्म या क्रिया से ही मुक्ति होगी ऐसा संकुचित भाव वेदान्त में नहीं है। वह सर्व व्यापक भाव वाला होने से सब धर्म और क्रियाओं को परमपद प्राप्ति का सहायक समझता है। वह किसी को अपने से भिन्न नहीं मानता, किसी का तिरस्कार भी नहीं करता। जाति, देश, काल, गृहस्थ, त्यागी, स्त्री, पुरुष, गोरा, काला,

आदिक का भेद अभेद तत्त्व को जानने वाले के लिये नहीं होता। भेद की आवश्यकता भेद वालों में ही होती है। वेदान्त आत्म तत्त्व है, आत्मा सब से समीप है, और सब का अपना आप होने से सब को अनुकूल भी है। प्रत्येक मानता है कि दुःख आंतर में होता है और शरीरादिक बाहर के पदार्थों द्वारा होता है, पदार्थ बाहर हैं, उनका दुःख आंतर में क्यों होता है ? पदार्थ में से ऐसी कौन सी वस्तु आंतर में जाती है जिससे आंतर में दुःख होता है ? वह वस्तु बाहर से भीतर न जाय तो दुःख न हो इस प्रकार आंतर में दुःख रहित जो स्थिति है वह ही दैवी सुख है। पदार्थों से चित्त वृत्ति द्वारा हमारा सम्बंध होता है. उस सम्बंध के साथ जब आसक्ति होती है तब वह आंतर में जाकर दुःख की हेतु होती है। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थ दुःख का हेतु नहीं है और आंतर में भी दुःख नहीं है किंतु दोनों के सम्बंध वाली आसक्ति ही दुःख का हेतु है। आसक्ति ही अज्ञान है। अज्ञान न हो तो आसक्ति न हो, अज्ञान से राग द्वेष होता है, राग द्वेष से आसक्ति होती है और आसक्ति से दुःख होता है इस प्रकार अज्ञान सब अनर्थों की जड़ है। अज्ञान हटाने की जो युक्ति बताता है वह वेदान्त है। यहां कहे हुए अज्ञान का सूक्ष्म रीति से स्वरूप समझना चाहिये। उलटे भाव का ज्ञान ही अज्ञान है। अज्ञान में दबे हुए को 'यह अज्ञान है' ऐसा जानना कठिन है। केवल सम्बंध दुःख का हेतु नहीं है किंतु अज्ञान की आसक्ति वाला सम्बंध ही दुःख का हेतु है। जिस योग्यता का सम्बंध है, उस योग्यता को न समझ कर संबंध की कीमत विशेष कर देना

अज्ञान है। सम्बंध को उसकी योग्यतानुसार समझने से दुःख नहीं होता। दुःख राग द्वेष की विशेषता से होता है। जगत् और जगत् के पदार्थों का सम्बंध जगत् की पुस्तकों में रक्खो, उसको आत्मिक पुस्तक में प्रवेश मत होने दो, इस प्रकार करने से दुःख न होगा। पदार्थों की क्षणिकता की अपेक्षा जीव की महत्त्वता है। क्षणिक पदार्थों में भ्रांति से अक्षणिक जीव को युक्त कर देने से क्षणिक विकार और नाश का अनुभव जीव को अवश्य करना पड़ेगा। यदि जीव को जीव की योग्यता में रक्खा जाय और पदार्थों की योग्यता में पदार्थ रक्खे जांय तो पदार्थों द्वारा होने वाला दुःख जीव को न हो इस प्रकार के आचरण वाला ज्ञानी कहा जाता है। जिस प्रकार युद्ध में लड़ने वाले जो कवच (बख-तर) पहन कर लड़ते हैं तो बाहर की चोट से बचे रहते हैं इसी प्रकार जिसने 'आत्म ज्ञान' रूप कवच (बखतर) पहना है वह संसार के दुःख से दुःखी नहीं होता। जीव अनादि है ऐसा बहुत से मजहब वाले मानते हैं। जीव को यथार्थ तत्त्व से जानना और जगत् को जगत् के भाव से जानना, इसका नाम ज्ञान है। जो जीव को उत्पत्ति नाश वाला मानते हैं उन्हें भी दुःख होने का कारण आसक्ति का सम्बन्ध ही है और जो जीव को अनादि अनंत मानते हैं, वे जीव को आत्म तत्त्व मानते हैं। जो जीव को उत्पत्ति नाश वाला मानते हैं वे उसको शरीर के साथ मानते हैं। वस्तुतः कुछ भेद नहीं है, कैसे भी मानो दुःख को छोड़ने के निमित्त अज्ञान को छोड़ना पड़ेगा। अद्वैत भावना विना अज्ञान का समूल नाश नहीं होगा। जीव को अनादि मानना अज्ञान से

हटाने की एक युक्ति है। अन्य मजहबों की सत्य युक्तियों से भी किसी न किसी प्रकार अज्ञान हट सकता है। वास्तविक आत्म तत्त्व अनादि और आदि दोनों भाव से विलक्षण है। सब युक्तियां उसीसे सिद्ध होती हैं और सामान्यता से सब युक्तियां उसीमें हैं। जैसे योग शास्त्र के अनुसार क्रिया करने में ऋतु की आवश्यकता है, यज्ञादि करने में जाति देश की आवश्यकता है, धर्म क्रियाओं के निमित्त संस्कार की आवश्यकता है, वैसे आत्मा प्राप्ति में किसी की आवश्यकता नहीं है, आत्म प्राप्ति में कोई प्रतिबंधक नहीं है। माया के कार्य में ही माया का विधि निषेध है परमतत्त्व में विधि निषेध नहीं है। पदार्थ के ग्रहण करने में देश काल आदिक की अपेक्षा है, अज्ञान को छोड़ने और अपने आप को जानने में किसी की आवश्यकता नहीं है। आत्म सत्ता से सब सत्ता वाले होते हैं तो भी आत्मा सब से असंग है। आत्मा अधिष्ठान है, जगत् अध्यस्त है। अध्यस्त के दोष से अधिष्ठान कभी दूषित नहीं होता। अध्यस्त की–जगत् की निवृत्ति और अधिष्ठान रूप आत्मा का ज्ञान परम पद है। जो आत्मा संग वाला होता तो संग में असंग न रह सकता किंतु संग अज्ञान से माना हुआ है इसलिये ज्ञान से निवृत्त हो सकता है।

उपरोक्त तीनों अवस्थायें रूपांतर वाली हैं, आत्मा सब में अन्युस्यूत और अवस्थाओं के विकार से रहित है। वह हर एक का अपना आप है। अवस्थाओं का अभिमान छोड़ने वाला और आत्म भावना करने वाला परमपद के मार्ग में जाता है। आत्म-

ज्ञान प्रकाशित होने के लिये जिस शुद्धि की प्रथम आवश्यकता है उसको प्राप्त करके सद्गुरु से आत्म ज्ञान श्रवण करने के पीछे मनन और निदिध्यासन करके कृतार्थ होना चाहिये। इसके विना मनुष्य जन्म सार्थक नहीं होता। सब मजहब वाले इस प्रकार कर सकते हैं क्योंकि मानसिक विचार और निश्चय सिद्धान्त है, कोई मुख्य क्रिया नहीं है।

तू कौन है ?

संतः—दोनों मित्र में हुए वार्तालाप को श्रवण करः—फाल्गुन मास के गुलाबी जाड़े में प्रातःकाल मुम्बई में चोपाटी पर कई मनुष्य हवा खाने को विचर रहे थे। उनमें दो मनुष्य समान वय वाले और उच्च जाति के हों ऐसे दीखते थे, दोनों मित्र थे और एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। कई वातों में दोनों की समानता थी इसीलिये उनकी मित्रता थी। दोनों एक ही कोलेज में पढ़े थे। एक विषय में उन दोनों की एक दूसरे से भिन्नता थी। एक तत्त्व रहस्य और शास्त्र का ज्ञाता था और दूसरा इस विषय में अज्ञ था। न तो ईश्वर सम्बन्धी वह कुछ जानता था और न उसने अपना कोई निश्चय स्थिर किया था। जैसे आज कल के बहुत से पढ़े लिखे नवयुवक होते हैं वैसे ही वह था। वह सब वातों का निर्णय तर्क अथवा बुद्धि से ही करना चाहता था। उसको आर्य शास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा नहीं थी। वह ऐसा समझता था कि शास्त्रों में कुछ तत्त्व है ही नहीं। उसकी बुद्धि तीव्र थी और तर्क करने में कुशल थी, साथ ही जब वह किसी के साथ वाद विवाद करने में निरुत्तर हो जाता और उसकी बात कट जाती तो वह दूसरे की समझाई हुई निर्णीत बात को मान लेता था, दुराग्रही नहीं था, इसका नाम उमाशंकर था। दूसरा जो शास्त्र का ज्ञाता था, उसका नाम शिवशंकर था। वह भी उमाशंकर के समान युवान और पाश्चात् विद्या से पूर्ण था। उसके घर में वंश परम्परा से वेदान्ताचार्य का पद प्राप्त

था। उसका पिता बहुत प्रतिष्ठित शास्त्री और आचार्य था। जस का तैसा ही होता है, इस न्याय के अनुसार वह भी पिता के समान छोटी उमर में ही वेदान्त का पूर्ण ज्ञाता था। वेदान्त जानने के लिये उसे विशेष परिश्रम करना नहीं पड़ा था, पूर्व संस्कार और सहवास से वह सहज ही में तत्त्व का ज्ञाता हो गया था। दोनों मित्र मार्ग में जारहे थे तब शिवशंकर ने उमाशंकर से कहा "मित्र! जगत् की गप सप तो रोज मारते ही रहते हैं, आज मैं तुमसे कुछ ऐसी बात कहना चाहता हूं जिससे तुम्हें बहुत लाभ होगा। मनुष्य का स्वभाव इस प्रकार का पड़ गया है कि वह अनेक पदार्थों को जानना चाहता है, शक्ति अनुसार जानता है, विद्वान् बनता है, ग्रन्थ बनाता है, जल का, जमीन का और आकाश के ग्रहों का अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय करता है, प्रत्येक के गुण, अवगुण देखता है, कोई पूछे अथवा न पूछे तो भी हर बात का न्याय करने वाला—न्यायाधीश बन जाता है और ऐसा समझता है कि मेरी बुद्धि सब से विशेष है, मैं ही जानता हूं, मैं ही जानने वाला हूं, मैं ही ठीक जानता हूं, मेरे समान दूसरा नहीं जानता, ऐसा मानता है परन्तु उसके जानने के सब विषय नाम और रूप वाले ही होते हैं। आश्चर्य यह है कि सब को जानने का अभिमान करने वाला स्वयं अपने आप को नहीं जानता। अज्ञान में अंध होता है। यदि कोई पूछे कि तू कौन है, तो पूछने वाले के सवाल को ही गलत बताता है अथवा पूछने वाले से कहने लगता है 'मूढ़! क्या दीखता नहीं? सामने तो खड़ा हूं।' सामान्य मनुष्यों का

यह ही हाल है परन्तु विशेष बुद्धि वाले को यह अवश्य निर्णय करना चाहिये कि मैं कौन हूं। मेरा यह आज का कथन चाहे तुझे प्रिय हो अथवा न हो, मैं तुझसे अवश्य कहूंगा। तू जानता है कि मैं आचार्य पुत्र हूँ, शास्त्र रहस्य हमारे घर ही की वस्तु है।" उमाशंकर बोला "मित्र, आर्य फिलोसोफी पर मुझे श्रद्धा नहीं है तो भी मैं तेरे वचन को अवश्य सुनूंगा। शास्त्र के तत्त्व रहस्य के लंबे लंबे शब्दों के अर्थ को मैं समझ नहीं सकता, मैंने पाश्चात् फिलोसोफी पढ़ी है, उसमें मुझको रस आता है, पूर्व फिलोसोफी उससे विशेष क्या होगी?" शिवशंकर बोला "भाई, तू दोनों फिलोसिफियों का मुकाबला नहीं कर सकता क्योंकि तुझको पूर्व के तत्त्व ज्ञान की उन्नामासी भी मालूम नहीं है, मैंने तेरे साथ पश्चिम की फिलोसोफी पढ़ी है और पूर्व की फिलोसोफी मेरे घर की है इस प्रकार मुझे दोनों फिलोसोफियां मालूम हैं इसलिये मैं तटस्थ रह कर उन दोनों का निर्णय कर सकता हूँ, तू निश्चय समझ कि पूर्व का तत्त्व ज्ञान पश्चिम के तत्त्व ज्ञान से बहुत उच्च कक्षा का है और अंतिम है। पश्चिम के तत्त्वज्ञान का विवेचन बहुत है बुद्धि बहुत दौड़ाई गई है परन्तु उसकी हद बुद्धि में ही है, बुद्धि से बाहर नहीं है। पूर्व का तत्त्व ज्ञान सूत्र रूप है और बुद्धि से परे अंतिम तत्त्व में ले जाने वाला है। उसका भी भाष्य, वार्तिक और टीकाओं करके बहुत विस्तार हुआ है। दोनों की शैली में अवश्य अंतर है। पश्चिम वाले विशेष करके तर्क के सहारे चलते हैं। पूर्व का तत्त्व ज्ञान श्रद्धा संयुक्त तर्क से तर्क के पार ले जाने वाला है। तू मेरे साथ न्याय युक्त वाद कर, तुझे तर्क करने की

छूट है, मेरे प्रश्नों का उत्तर देता जा, उसके सम्बन्ध में प्रश्न कर, मेरी कही हुई बात को समझ और मेरे साथ २ अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि में चला आ, मेरा तुझसे प्रश्न है कि तू कौन है ?" उमाशंकर बोला "मैं तेरा मित्र हूँ, तू सब प्रकार से मुझे जानता है, तब तू ऐसा क्यों पूछता है ?" शिवशंकर बोला "मैं तुझे जानता हूं या नहीं, इसका यहां काम नहीं है, मैं जो तुझे जानता हूं सो तो जानता ही हूं, जब मैं तुझसे इस प्रकार का प्रश्न करता हूँ तब उसमें कोई विशेष महत्त्व होगा, मेरा यह निश्चय है कि तू अपने को जानता ही नहीं है जैसी तेरी बुद्धि चले वैसा इसका उत्तर दे !" उमाशंकर बोला "मैं उमाशंकर हूँ, तेरा मित्र, रतिलाल व्यास का पुत्र, बोम्बे यूनीवर्सिटी का ग्रेजुयेट हूं।" शिवशंकर बोला "नहीं, नहीं। यह मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं है उ, मा, शं, क, र, ये तो लिपि के वर्ण हैं, यह तू नहीं है, वर्ण कोई वस्तु नहीं है, यदि तू कहे कि यह मेरा नाम है तो मैंने तुझसे तेरा नाम नहीं पूछा, मेरा प्रश्न है कि तू कौन है ? तू अपने को दिखलाये बिना—सिद्ध किये बिना ही मुझे अपना मित्र बताता है, तेरा मित्र कौन है, यह मेरा प्रश्न नहीं है, और मुम्बई की यूनीवर्सिटी से भी सिद्ध नहीं होता, इन सब वाक्यों से तेरी सिद्धि नहीं होती, उमाशंकर बहुत से होंगे, तू अपने को उमाशंकर कैसे कह सकता है, यूनीवर्सिटी के ग्रेजुयेट भी बहुत हैं, इस शब्द से तू अपने को किस प्रकार सिद्ध करता है ?" उमाशंकर बोला "यह सब मेरी पहिचान है।" शिवशंकर बोला "मैं तुझ से पूछता हूँ कि तू कौन है, मैंने तेरी पहिचान नहीं पूछी !" उमा-

शंकर बोला "क्यों सिर मारता है ? मैं उमाशंकर हूं।" शिव-शंकर बोला "मित्र, नाराज मत हो। उमाशंकर तो तेरा नाम है, नाम तू नहीं हो सकता, क्योंकि नाम तेरा है, नाम अनित्य है, जब तू पैदा हुआ था तब किसी ने यह नहीं कहा था कि उमा-शङ्कर पैदा हुआ है, यह नाम तो तुझे पीछे से मिला है, यह एक ही तेरा नाम नहीं है, तेरे बहुत से नाम मुझे मालूम हैं, तेरी दादी तुझसे उमा कहती है, तेरी माता तुझसे लल्ला कहती है, तेरा पिता तुझसे लाभ शङ्कर कहता है क्योंकि प्रेम के कारण तेरे जन्म को वह लाभ मानता है, तेरी बहिन तुझे भाई करके पुकारती है, तेरा पुत्र तुझसे पिता कहता है, जब तेरे इतने नाम हैं तो तू अपने को एक उमाशङ्कर ही क्यों कहता है ?" उमा-शङ्कर बोला "ये जितने नाम तूने गिनाये हैं वे गुण, सम्बन्ध अथवा क्रिया से है, मेरा नाम तो उमाशङ्कर ही है।" शिवशङ्कर बोला "नहीं, तू उमाशङ्कर नहीं है। कुछ सोच, विचार, नाम और नामी भिन्न भिन्न होते हैं, जिसका नाम तू उमाशङ्कर बताता है, वह कौन है ?" उमाशङ्कर बोला "जो तेरे साथ खड़ा है, जो तुझसे बात कर रहा है, वह मैं हूँ।" शिवशङ्कर बोला "मेरे साथ अनेक हैं, मैं किसे समझूं ? मेरे साथ बात करने वाले भी बहुत से हैं, तब किसको समझूं ?" उमाशङ्कर बोला "जो तेरे सामने हाथ पैर वाला, वर्तमान काल में शरीरधारी खड़ा है, वह मैं हूँ।" शिवशङ्कर बोला "मेरे सामने तो हाड़ मांस का पुतला खड़ा है, क्या वह तू है ?" उमाशङ्कर बोला "हां। हाड़-मांस का पुतला तो तू भी है !" शिवशङ्कर बोला

"यह तेरा कहना अनुचित नहीं है, जब सब हाड़ मांस के पुतले हैं तब तू सिद्ध नहीं हुआ, फिर तू कहता है कि शरीरधारी खड़ा है; मैं यह ही पूछता हूँ कि शरीरधारी तू कौन है ?" उमाशङ्कर बोला "तब समझले कि मैं हूँ।" शिवशङ्कर बोला "वाह ! यह भी कोई उत्तर है ? 'मैं' प्रथम पुरुष सर्व नाम है 'मैं' को सब अपने में लगाते हैं, इससे तेरी सिद्धि कैसे हुई ? मेरा प्रश्न तो यह है कि तू कौन है ?" उमाशङ्कर बोला "मैं समझ गया; तू सूक्ष्म भाव से पूछता है, सुनः—जो बोलता है, वह मैं हूँ।" शिवशङ्कर बोला "झूंठा है, कौन बोलता है ? मुख बोलता है, तू कहां बोलता है ?" उमाशंकर बोला "तब कौन बोलता है ?" शिवशंकर बोला "तेरा मुख बोलता है, तू नहीं बोलता। उमाशंकर बोला "परन्तु मुख से मैं ही बोलता हूं !" शिवशंकर बोला "ऐसे तो कान से सुनता हूँ, सो मैं हूँ, पैर से चलता हूं, सो मैं हूँ, हाथ से लेता हूँ, सो मैं हूँ, नेत्र से देखता हूँ, सो मैं हूँ, इत्यादि सब इन्द्रियों की क्रिया है, यह क्रिया सब में सामान्यता से एक सी है, ऐसी क्रिया और क्रिया का ज्ञान तू नहीं है, मैं तो तुझसे पूछता हूँ कि तू कौन है ? क्या तू मेरा हाथ रख कर बता सकता है ?" उमाशंकर शिवशंकर का हाथ अपने शरीर पर लगा कर बोला "यह मैं हूँ !" शिवशंकर बोला "यह तो तेरा पहना हुआ कोट है !" उमाशंकर बोला "कोट नहीं उसके भीतर !" शिवशंकर कोट हटा कर बोला "यह तो तेरा पेट है।" क्या तू पेट है ? नहीं, नहीं !" उमाशंकर ने उसके हाथ को अपने हाथ पर रक्खा तब शिवशंकर ने कहा "यह तो हाथ है।" इसी प्रकार

उमाशंकर ने शरीर के जिस २ अंग पर हाथ लगाया शिवशंकर ने उसका नाम कहा। तब उमाशंकर विचारने लगा "इसको कैसे समझाऊँ? जिस अंग पर हाथ रखता है उसी का नाम बता देता है।" थोड़ी देर विचार कर बोला "जिस अंग पर तूने हाथ लगाया उन सब अंगों का समुदाय मैं हूं।" शिवङ्कर ने कहा "नहीं! समुदाय कोई पदार्थ नहीं है। उनमें से एक टूट जाय तो तू रहे या नहीं?" उमाशङ्कर ने कहा "हाथ पैर आदिक में से कोई एक न रहे तो मैं रह सकता हूं। इसलिये मैं शरीर हूँ!" शिवशङ्कर ने कहा नहीं! यह भी नहीं हो सकता। तू बारम्बार कहता है कि शरीर मेरा है, मेरा मुझसे भिन्न होता है, यदि तू पुनर्जन्म को मानता हो तो शरीर का नाश होने पर अपना नाश नहीं मानेगा। पुनर्जन्म नहीं मानने वाले भी अपने को शरीर से पृथक् ही मानते हैं, बोल, तू कौन है?" उमाशंकर बोला "अब क्या कहूं? जो कहता हूँ, उसे तू काट देता है, तब मैं कहता हूँ कि जो मैं अपने को नहीं जानता, सो मैं हूं।" शिवशंकर ने कहा "वाह! खूब उत्तर दिया। कोई मूर्ख से मूर्ख भी ऐसा उत्तर नहीं देगा। तूने उत्तर देने में बुद्धि तो बहुत चलाई। 'नहीं जानता' 'सो' ये दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं! नहीं जानने वाला बिना जाने यह नहीं कह सकता कि मैं नहीं जानता! क्योंकि नहीं जानने में भी जानना तो है ही! तू नहीं जानने वाले में मैं का उपयोग करता है, सो यह उत्तर न हुआ।" उमाशंकर बोला "तब क्या कहूँ? जीव हूँ—शरीर सहित चेतन हूँ!" शिवशंकर बोला "यह भी नहीं। तेरा मत-

तब जीव से हो तो जीव शरीर सहित नहीं है, केवल चेतन तेरे देखने में आता नहीं, जीव शरीर को छोड़ कर जाता है, शरीर स्वयं जड़ है, जल कर खाक हो जाता है, इससे सिद्ध हुआ कि तू शरीर तो नहीं है, तब तू कौन है ?" उमाशंकर बोला "तब मैं मन हूँ।" शिवशंकर ने कहा "फिर उत्तर देने में गड़बड़ी की। तू मन है कि मन तेरा है ?" उमाशंकर बोला "मन मेरा है, ऐसा ही मैं कहता हूँ।" शिवशंकर बोला "तब तू मन कैसे है ? जैसे तू स्थूल शरीर नहीं है, ऐसे ही मन रूप सूक्ष्म शरीर भी नहीं है।" उमाशंकर बोला "यह कैसे समझ में आवे ?" शिवशंकर बोला "जब तेरा मन किसी स्थान पर चला जाय और तू किसी की बात को न सुने, बात कहने वाला तुझसे कहे कि तूने सुना या नहीं तब तू कहेगा कि मेरा मन दूसरी जगह चला गया था इसलिये मैंने कुछ नहीं सुना, मन तेरा औजार है, तू उससे काम लेता है, इसलिये मन तू नहीं है, 'मेरा मन चला गया' ऐसा जानने वाला तू अपने मन से पृथक् है।" उमाशंकर बोला "तब मन के चले जाने को जानने वाला मैं हूँ।" शिवशंकर बोला "उत्तर तो खूब दिया, बता। जीव का स्वरूप क्या है ? जीव जड़ तो है नहीं, चेतन कहे तो मन से भिन्न उसकी चेतनता तेरे अनुभव में कब आती है ?" उमाशंकर बोला "जो जीता रहे सो जीव।" शिवशंकर बोला "क्या जीव कभी मरता नहीं है ?" उमाशंकर बोला "मरता तो होगा।" शिवशंकर बोला "तब तेरी जीव व्याख्या झूठी हुई।" उमाशंकर बोला "तब जीव नहीं मरता होगा। शिवशंकर बोला "जब तू जीव को नहीं मरने वाला कहता

है और मरने से डरता है, मरता है तो तू जीव कैसे हुआ ? और भी विचार कि कभी २ तू यह भी कहता है कि मेरे जीव को चैन नहीं है, मेरा जीव व्याकुल है, इससे मालूम होता है कि तू जीव से भिन्न है।" उमाशंकर बोला "हां, ऐसा वर्ताव होता है परन्तु यह स्वभाव पड़ गया है, ऐसा कहना रूढ़ हो गया है, यह इस भाव से नहीं कहा जाता कि मैं इनसे पृथक् हूँ।" शिवशंकर बोला "यह बात नहीं है, जब से बच्चा जन्मता है तब से माता पिता आदिक बड़े बूढ़ों के शब्दों को सीखता जाता है, जिस प्रकार वे लोग बोलते हैं, वैसे ही बोलने लगता है, प्राचीन ऋषि लोग यथार्थ ज्ञाता थे और मन को अपने से पृथक् जानते थे। 'मेरा मन' इस प्रकार की बोल चाल परम्परा से चली आई है। तू मन नहीं है किंतु मन से पृथक् है।" उमाशंकर बोला "जब मैं मन से भी कोई अन्य हूँ तब दीखता क्यों नहीं है ? और तू भी तो जीव शब्द का उपयोग मन के अर्थ में करता है। यदि मैं मन से कोई अन्य होता तो अवश्य दीखता इसलिये मन को छोड़ कर मैं कोई अन्य नहीं हूं।" शिवशंकर ने कहा 'ऐसा कोई नियम नहीं है कि न दीखने वाला पदार्थ हो ही नहीं, देखना नेत्र इन्द्रिय का विषय है, नेत्र इन्द्रिय रूप को ही देख सकता है, आकाश और वायु नेत्र इन्द्रिय का विषय नहीं है, वह उनको नहीं देख सकता इसलिये वे हैं ही नहीं, ऐसा तू नहीं कह सकता।" उमाशंकर बोला "आकाश अथवा वायु नहीं दीखते तो न सही परन्तु अवकाश से आकाश का बोध होता है और स्पर्श से वायु का बोध होता है। मैं मन से भिन्न होऊं तो उसका भी किसी प्रकार मुझको

बोध होना चाहिये।" शिवशंकर बोला "इस प्रकार तो तुझे मन से भिन्न अपने का बोध भी होता है परन्तु तुझे इसकी खबर नहीं है।" उमाशंकर बोला "किस प्रकार ?" शिवशंकर बोला "जब तू गाढ़ निद्रा में सो जाता है तब तेरा मन वहां नहीं है और तू तो है ही, यदि मन ही तू हो तो मन न रहने से तुझे मर जाना चाहिये। सुषुप्ति में मन नहीं होता तब भी तू अपने को मरा हुआ नहीं मानता।" उमाशंकर बोला "मन होता तो है परन्तु सोया हुआ होता है।" शिवशंकर ने कहा "सोया हुआ मन कुछ जान नहीं सकता और तुझे तो खबर है कि मैं सुख से सोया था, मैंने कुछ भी नहीं जाना, यह जानने वाला मन तो नहीं था, मन से पृथक् ही था।" उमाशंकर बोला "वहां क्या जाना ? वहां तो कुछ भी नहीं जाना।" शिवशंकर ने कहा "कुछ भी नहीं जाना, इसमें भी तो जानना है ही, विचार, जानना और नहीं जानना दोनों जानने से ही होते हैं, वहां कुछ नहीं था, यह तू ने जाना है, वहां शांति थी, उसीको तू ने जाना है।" उमाशंकर बोला "वहां मैंने कुछ नहीं जाना, यह तो मैं जाग्रत में आकर कहता हूँ ? सुषुप्ति में नहीं कहता।" शिवशंकर बोला "हां सच है, तू सुषुप्ति में नहीं कहता परन्तु यदि सुषुप्ति में बोध न किया हो तो जाग्रत में जो कहता है, वह किस प्रकार कहे ? सुषुप्ति में बोध होता है परन्तु व्यक्ति भाव का मन और अहंकार वहां प्रत्यक्ष नहीं है। कहना, सुनना, विचारना अन्तःकरण से होता है, सुषुप्ति में अहंकार न होने से वहां कह नहीं सकता, उसकी स्मृति रहती है, जब जाग्रत अवस्था में आता है, मन बुद्धि होवे हैं तब बोध की

स्मृति मन बुद्धि से कहता है इसलिये मन बुद्धि से परे, जो मन बुद्धि का साची हैं, वह ही साची तू है।" उमाशंकर बोला "तेरी युक्ति से कुछ कुछ समझ में तो आता है परन्तु अनुमान ही है, क्या मैं जो तत्त्व हूँ, वह अनुमान का ही विषय है या उसका प्रत्यच भी हो सकता है? शिवशंकर बोला "अभी तू समझा नहीं है, यदि तुझे अपने जानने की इच्छा हो तो मैं समझा दूं:- स्थूल शरीर जिसको सब मेरा कहते हुए अभिमान से जिसमें 'मैं' का बर्ताव करते हैं, वह अज्ञान से है, शरीर पतला, मोटा, काला, गोरा इत्यादि होता है और लोग अपने को पतला, मोटा इत्यादि मानते हैं, यह शरीराध्यास है। यदि तू कहे कि मैं शरीराध्यास को नहीं समझता तो मैं समझाता हूँ:-जैसे तू कपड़ा पहिन कर जारहा हो, मार्ग में भंगी जारहा हो, किसी कारण भंगी का हाथ तेरे कपड़ों से लग जाय तो तू समझता है कि मुझे भंगी ने छू लिया और मैं अशुद्ध हो गया। थोड़ी देर के लिये समझ कि तू शरीर है, तूने कपड़े पहिने हैं, तूने-तेरे शरीर ने भंगी को नहीं छुआ, कपड़ों ने ही छुआ है, कपड़ा तुझसे भिन्न है, तूने—शरीर ने कपड़ा पहिना है, तू-शरीर छू नहीं गया, तूने कपड़ों सहित जो अपने को मान रक्खा है, वह अध्यास है। इसी प्रकार तू शुद्ध आत्म स्वरूप है, उपाधि रूप स्थूल शरीर का कपड़ा तूने पहिना है जैसे कपड़े सहित भंगी के छूने के समय तूने अध्यास से अपने को छुआ हुआ समझा था इसी प्रकार शुद्ध आत्मा स्थूल शरीर से अध्यास—अज्ञान से एकमेक भाव वाला हुआ है। तू पतला मोटा आदि तीनों काल

में नहीं है, शुद्ध रूप से जैसा है वैसा ही रहता है परन्तु अपने स्वरूप को भूल कर उपाधि के शरीर को अपना स्वरूप समझता है, इसका नाम शरीराध्यास है, स्थूल शरीर विकार वाला है, उसके अध्यास से तू अपने में विकार का आरोप करता है, आरोप का अर्थ भी समझ। किसी पदार्थ में किसी का भान होना आरोप है। शरीर मोटा पतला है, मोटे पतले आदि का भाव आत्मा में होना अध्यारोप कहा जाता है, आरोप मिथ्या होता है परन्तु आरोप करने वाले को जब यह बोध नहीं होता कि मैं आरोप कर रहा हूँ तब आरोप से हुआ दुःख सच्चा ही प्रतीत होता है। आत्मा अक्रिय, असंग, अविकारी, अव्यक्त और विभु है परन्तु शरीराध्याससे-आत्मामें शरीर के आरोपसे आत्मा का बोध नहीं रहता। अक्रिय का अर्थ यह है जो कोई भी क्रिया न करे, वह अक्रिय है। कर्म रूप कर्मेन्द्रिय की क्रिया, पदार्थ के ज्ञान रूप ज्ञानेन्द्रिय की क्रिया अथवा अंतःकरण की सूक्ष्म क्रिया इनमें से कोई भी आत्मा में नहीं है। इनमें से कोई भी क्रिया जिसमें न हो, उसे अक्रिय कहते हैं। आत्मा ऐसा होने से अक्रिय है। एक दूसरे में एक भाव से अथवा अलग रहते हुए मिलने को संग कहते हैं। आत्मा किसी से मिलता नहीं इसलिये असंग है। एक ही देश काल और अवस्था में संग होता है। आत्मा के सामने कोई अन्य पदार्थ है नहीं, देश, काल, अवस्था भी आत्मा में नहीं हैं इसलिये आत्मा असंग है। संग वाला ही विकारी होता है। आत्मा का किसी से संग नहीं है

इसलिये आत्मा विकारी भी नहीं है। जो अपने स्वरूप से न्यूनाधिक हो, परिवर्तन वाला हो, वह ही विकारी होता है। आत्मा अपने स्वरूप में सदा ज्यों का त्यों ही रहता है इसलिये विकारी नहीं है। अब अव्यक्त का अर्थ समझ। जो व्यक्तिपने से रहित हो, वह अव्यक्त है, जो प्रकट न दीखे उसे अव्यक्त कहते हैं। व्यक्ति परिच्छिन्न होता है, जो अमुक देश में हो और अमुक देश में न हो, वह देश से परिच्छिन्न कहलाता है। जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो, वह काल से परिच्छिन्न कहलाता है। जो किसी वस्तु में हो और किसी में न हो वह वस्तु से परिच्छिन्न होता है। जो सब स्थानों में हो, वह व्यापक विभु कहलाता है। जो आत्म तत्त्व है, वह ही परमात्म तत्त्व है ऐसा शास्त्रों से जाना जाता है और अनुभव से अपरोक्ष होता है।" उमाशंकर बोला "तू आत्मा को अकर्ता, अभोक्ता और व्यापक बताता है, मैं तो ऐसा नहीं हूँ।" शिवशंकर बोला "तू ऐसा ही है, परन्तु अध्यास के कारण से सूक्ष्म शरीर के कर्ता भोक्ता आदिक धर्मों को अपने में मानता है, इसलिये तुझको ऐसा मालूम होता है कि तू अकर्ता अभोक्ता नहीं है। जैसे स्थूल शरीर का अध्यास है ऐसे ही सूक्ष्म शरीर का अध्यास है, इसलिये अज्ञान से ऐसा भान होता है कि तू कर्ता भोक्ता है, वस्तुतः तू कर्ता भोक्ता नहीं है किंतु अखंडित सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। तू अज्ञान-अभिमान से अपने को व्यक्ति रूप मानता है। जब अज्ञान की निवृत्ति हो तब तुझे अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति हो। अब भी तू वही स्वरूप है, तुझमें कोई दोष नहीं है परन्तु अज्ञान से स्वरूप का

फल न होकर अज्ञान का फल दुःख ही होता है। तू स्थूल, सूक्ष्म अथवा सुषुप्ति के कारण शरीर में ही भरा हुआ नहीं है किंतु एक रस सबमें भरा हुआ है। शरीरकी आड़के कारण अज्ञान से ऐसा भान होता है कि तू शरीर है अथवा शरीर में भरा हुआ है। अज्ञान में भी स्वयं प्रकाश आत्मा का लोप नहीं होता, परदे सहित उसकी प्रतीति होती है, जगत् भरमें 'है-अस्तित्व' एक ही है। अनेक भिन्न २ उपाधियों में वह एक ही है, उपाधियों के कारण अनेक होकर दीखता है। इसी प्रकार दीखना रूप चेतन भी एक ही है। 'चेतन' 'है' से भिन्न नहीं है। 'है' में ही भास होता है। जहां 'है' नहीं वहां भास नहीं। 'है' से रहित कोई स्थान नहीं, 'है' ही मूल तत्त्व है। 'है' समान 'भास' भी एक ही है, उपाधियों से अनेक होता है, आनन्द इन दोनों से भिन्न नहीं है, आनन्द भी एक ही है, उपाधियों से अनेक होता है। गमनागमन क्रिया और भिन्न भिन्न ज्ञान उपाधियों में है। उपाधि मिथ्या है। उपाधि नाम रूप हैं। मिथ्या नाम रूप ने सच्चिदानन्द को ढांप दिया है इसलिये सच्चि-दानंद के सत्, चित् और आनंद का नाम रूप के साथ टुकड़ा प्रतीत होता है, यह अज्ञान है। अज्ञान, माया मिथ्या ही है। देख, अज्ञान में भी तेरा शुद्ध स्वरूप अपने को विकार रहित ही दीखता है। तू शरीर से छोटा था, पढ़ा, बड़ा हुआ, विवाह हुआ, लड़का हुआ, यह सब विक्रिया व्यवहार में होती गई, तू अपने हृदय से पूछ कि तू जो छोटेपन में था, वह ही अब है, या कुछ और हो गया। सूक्ष्मता से विचार करेगा तो मालूम होगा कि तुझमें कुछ भी न्यूनता अथवा अधिकता नहीं हुई, शरीरी

और अंतःकरण में ही बदला बदली हुई है। इससे सिद्ध होता है कि सत् जो अस्तित्व रूप है, वह ही तेरा सच्चा स्वरूप है। यह सच्चिदानंद का सत् है, अज्ञान में भी तुझे अपनी चैतन्यता सब से विशेष प्रतीत होती है। अन्य को जो तू तुच्छ समझता है, वह चैतन्य की ही महत्वता है। महान् चैतन्य अज्ञान में से भी निकल कर बाहर झलकता है। यह सच्चिदानन्द का चित् है, वह ही चित् तू है। तू परिपूर्ण है, अखण्डित आनन्द का भंडार है इसीलिये अज्ञान में भी तू सुख—आनन्द की इच्छा करता है और कितना ही सुख-आनन्द क्यों न मिल जाय तो भी अपूर्ण रहता है, क्योंकि तू स्वयं पूर्ण आनंद स्वरूप है। भला, मायिक ऐश्वर्य—आनन्द से तेरी तृप्ति किस प्रकार हो! इस प्रकार सच्चिदानन्द में का आनंद तू है। आनन्द सच्चित् से अभिन्न है। तेरा वास्तविक स्वरूप प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है क्योंकि आत्मा और परमात्मा के लक्षण एक ही हैं। तत्त्व अद्वैत होने से दूसरा है ही नहीं इसलिये सम्पूर्ण अनाद्यंत तत्त्व तू ही है, तू तुच्छ प्राणी नहीं है। मैंने जो तुझे समझाया है, उसका बारम्बार विचार कर। ऐसा करने से तेरी अद्वैतनिष्ठा पक्क हो जायगी।

'तू कौन है' इस प्रश्न का उत्तर ज्ञान के लक्ष्य से परब्रह्म है और उससे नीचे दर्जे में जीव है, जीव भी अन्य नहीं है। उपाधि युक्त आत्मा जीव कहलाता है, जीव में भी वास्तविक आत्म स्वरूप तू ही है और अन्य अज्ञान की उपाधि है, जब तक मनुष्य अपने आद्य तत्त्व को नहीं जानता तब तक सब कुछ जानते हुए

भी कुछ नहीं जानता। अपनी सिद्धि विना अन्य की सिद्धि मिथ्या है। अपने को पहिचाने विना 'हम तो हैं ही' 'हमको हम क्या जानें ?' ऐसा समझ कर बाहर की वृत्ति में ही प्रवर्त होना अनेक प्रकार के कष्टों से संग करना है। व्यवहार को व्यवहार की कक्षा में और आत्मा को आत्मा की कक्षा में रखने वाला शरीर होते हुए भी परम सुखी होता है, ऊपर जो आरोप दिखलाया है, उसके अपवाद विना यानी उसके भाव को हटाये विना अपने स्वरूप का बोध नहीं होता और बोध विना परम शांति नहीं होती। तूने सब कुछ पढ़ा है परन्तु सच पूछो तो कुछ नहीं पढ़ा। आज मैंने तुझे जो समझाया है, उसका विचार कर।"

उमाशंकर बोला "आज तूने बहुत सूक्ष्म बात समझाई है। तेरी सब युक्तियां यथार्थ समझ में आती हैं, तेरा कहना सच है। अपने जाने विना अन्य का जानना व्यर्थ है। झूठे माप से, जितना मापा जायगा, सब झूठ ही मापा जायगा। तेरे कहे अनुसार मैं अपने स्वरूप का नित्य प्रति विचार किया करूँगा और वारम्वार पूछ कर पक्का निर्णय करूंगा। मैं तेरा बहुत ही आभार मानता हूं। तूने मुझ पर पूरा उपकार किया।"

शिवशंकर:—तू सच्चिदानंद ब्रह्म स्वरूप है। अविद्या और अविद्या के पंच कोश का बाध करके सूक्ष्म बुद्धि से आत्म प्रकाश में स्वस्वरूप का अपरोक्ष कर ब्रह्म ही तेरा सच्चा स्वरूप है उसे जान कर ही परम शांति को प्राप्त होगा।

सच्चिदानन्द ।

ब्रह्म का कोई नाम नहीं है, कोई रूप नहीं है, कोई गुण नहीं है क्योंकि ब्रह्म अनामी, अरूप और निगु ण कहा जाता है तो भी उपदेश के निमित्त, लक्ष पहुँचाने के लिये कुछ न कुछ कहना ही पड़ता है। इसी कारण ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहते हैं। जैसे शास्त्रों में ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा है ऐसे ही सच्चिदानन्द रूप से आत्मा का वर्णन है।

गुण में और स्वरूप में कुछ अन्तर है। गुण गुणी में होता हुआ भी गुणी से कुछ पृथक् होता है और स्वरूप वस्तु ही होती है। जैसे तेज घोड़े में तेजी का गुण उससे पृथक् है क्योंकि तेजी घट और बढ़ भी सकती है इसलिये वह गुण है और घोड़ा रूप वस्तु घोड़े का स्वरूप है जो उससे पृथक् नहीं हो सकता। ऐसे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म के गुण नहीं हैं परन्तु वे ब्रह्म स्वरूप ही हैं।

यदि घोड़ा प्रत्यक्ष में न हो-न दीखता हो और उसका बोध कराना हो तो जिन शब्दों से बोध कराया जाता है वे शब्द दो प्रकार के होते हैं एक विधि वाक्य और दूसरे निषेध वाक्य। जैसे और प्राणियों से गधे की आकृति घोड़ेकी आकृति से विशेष मिलती है इसलिये कहा जाता है कि गधे की आकृति से मिलता जुलता घोड़ा होता है, गधे से कुछ लम्बा होता है, गधे के कान जितने लम्बे होते हैं, घोड़े के इतने लम्बे नहीं होते। गधे के समान चार पैर, मुख, पूंछ होते हुए भी घोड़ा गधा नहीं है किंतु

घोड़ा है। जैसे भैंसा, बैल आदिक के सींग होते हैं ऐसे अथवा और किसी प्रकार के सींग घोड़े के नहीं होते। इन दो प्रकार के वाक्यों में से जिनमें घोड़ा ऐसा है यह कहा है वे विधि वाक्य हैं और जिनमें घोड़ा ऐसा नहीं है ऐसा कहा है वे निषेध वाक्य हैं। आत्मा का बोध कराने के लिये ऐसे दोनों प्रकार के वाक्य कहे जाते हैं। इसी प्रकार की युक्ति से उसका बोध होना संभव है। आत्मा किसी गुण का गुणी नहीं है आत्मा का कोई गुण नहीं है, आत्मा अवाच्य है इसलिये उसके समझने के लिये सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना चाहिये। जैसे जब कोई अंधा किसी मनुष्य से मार्ग पूछता है तो मार्ग दिखलाने वाला मार्ग से दूर खड़ा हो कर, शब्द से इस प्रकार मार्ग बताता है:—सीधा चला जा, दहने हाथ को घूम जाना, बायें हाथ को न जाना, दस कदम सीधा चल। मनुष्य के बताये अनुसार जब अंधा चलता है तब अपने इष्ट मार्ग को पहुंच जाता है। इसमें चल, सीधा चल आदिक विधि वाक्य हैं और न जाना निषेध वाक्य हैं। ऐसे ही जिनमें सीधा स्वरूप दर्शक वर्णन है वे विधि वाक्य हैं, जिनमें अकार, नकार लेकर वर्णन है वे निषेध वाक्य हैं। अनादि, अनन्त, अभेद्य, अनामी, निर्गुण, निष्क्रिय, निरंजन, निर्लेप, निरामय, अव्यक्त, अद्वैत आदिक निषेध वाक्य हैं और सत्, चित्, आनन्द सर्वव्यापक, ज्योति स्वरूप, बोध स्वरूप, साक्षी, सर्वाधिष्ठान, ब्रह्म, शाश्वत इत्यादिक विधि वाक्य हैं।

शंका:—सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है, ब्रह्म को अद्वैत बताते हो तो अद्वैत में ये तीन भेद कहां से आये?

और ऐसा भी सुना है कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित है, जब उसमें तीन भेद हैं तब स्वगत भेद रहित किस प्रकार हो ? अपने में भेद होना स्वगत भेद है। सत्, चित् और आनन्द तीनों का स्वरूप भिन्न २ है इसलिये वह एक नहीं है। यदि एक ही होता तो तीन शब्दों करके भेद कथन नहीं किया जाता। जब तीन कहते हो तो वे तीन उसके गुण हैं इससे ब्रह्म को निर्गुण कहना नहीं बनता। यदि निर्गुण ही माना जाय तब वह सत् चित् आनन्द वाला नहीं कहा जा सकता।

समाधानः—ब्रह्म सत्, चित् आनन्द वाला नहीं है किंतु सत् चित् आनन्द स्वरूप है। वस्तु ही वस्तु का स्वरूप कहा जाता है। सत् चित् और आनन्द के कहने से जो तू अद्वैत की हानि बतलाता है, ऐसा नहीं है और अद्वैत में वे तीन भेद भी नहीं हैं। भेद न होने से स्वगतादि भेद रहितता की हानि नहीं होती। सत् चित् और आनन्द ये तीन भेद एक दूसरे से भिन्न भी नहीं हैं। तीनों शब्द करके कही हुई वस्तु स्वरूप से एक ही है एक ही वस्तु के बोध के निमित्त तीन प्रकार के भाव से एक ही का कथन है। उपदेश के निमित्त अकथनीय का कथन करने में आता है इसलिये ब्रह्म के निर्गुणपने की हानि नहीं है।

सत् का अर्थ 'है' चित् का अर्थ 'प्रकाश' और आनन्द का अर्थ 'प्रिय' है। उदाहरणार्थ एक लालटेन पर इन तीनोंका प्रयोग इस प्रकार होता है:—लालटेन है, प्रकाशती है और अंधेरे में प्रिय है। यहां लालटेन में रहने वाले, है, प्रकाश और प्रिय को किस

प्रकार भिन्न कर सकते हैं क्योंकि वे तीनों एक ही का स्वरूप हैं। जो है सो प्रकाशती है, जो है और प्रकाशती है वह ही प्रिय है इन तीनों शब्दों का भाव लालटेन के सिद्ध करने में हेतु है। वे तीनों एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं क्योंकि उन तीनों में से एक को भी हटा नहीं सकते। एक के हटाने से तीनों हट जाते हैं और एक रखने से तीनों रह जाते हैं। तीन शब्द होते हुए, तीनों का अर्थ भिन्न होते हुए तीनों एक को ही सिद्ध करते हैं इसलिये वे तीनों वस्तु का गुण नहीं है किंतु स्वरूप हैं।

जैसे कोई चन्द्र का वर्णन करे कि चन्द्र शीतल प्रकाश वाला है, गरमी को शांत करता है, आनन्द दायक है तो ये तीनों भाव एक चन्द्र को ही सिद्ध करते हैं। यदि शीतल प्रकाश वाला निकाल दिया जाय तो गरमी को शांत करने वाला और आनन्द देने वाला न रहे। गरमी को शांत करने वाला निकाल दिया जाय तो शीतल प्रकाश वाला और आनन्द देने वाला न रहे और आनन्द देने वाला निकाल दिया जाय तो शीतल प्रकाश वाला और गरमी को शांत करने वाला न रहे। इसलिये वे तीनों चन्द्र के गुण न समझने चाहियें, किंतु चन्द्र का स्वरूप समझना चाहिये। वे तीनों हों तो चन्द्र हैं, वे न हों तो चन्द्र नहीं है। इसी प्रकार सत् चित् आनन्द ही ब्रह्म है।

सत्यवती नगरी में निर्मलचन्द नाम का एक पुरुष रहता था उसका एक पुत्र पुरुषोत्तम था। जब उसकी उमर बीस वर्ष की हुई

तब उसकी एक बहिन का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने उसका जन्म अत्यन्त अशुभ समझा और उसके माता पिता से हमेशा के लिये उसका त्याग करने को कहा और यह भी कहा कि यदि तुम उसका त्याग न करोगे तो वह पुत्री तुम्हारा घात करेगी। पुरुषोत्तम अपने पिता निर्मलचन्द और माता महादेवी के कहने से अपनी बहिन को जंगल में ले गया और वहां उसे छोड़ दिया। छोड़ते समय उसके दिल में दया ने प्रवेश किया और वह सोचने लगा "बहिन जंगल में अकेली है, जंगली जानवर उसे खा जायंगे तो उसकी हत्या मेरे शिर पर पड़ेगी इसलिये उसको पास के सूर्यपुर नगर में जाकर किसी को सौंप आऊं तो अच्छा है।" ऐसा विचार कर उसने बहिन को फिर उठा लिया और सूर्यपुर में जा कर उसे एक मनुष्य के यहां रख दिया और सब प्रबन्ध कर दिया। कुछ बड़ी होने के बाद उसने उसे एक अलग मकान में रख कर दास दासियों का प्रबन्ध कर दिया। समय पाकर पुरुषोत्तम का पिता निर्मलचन्द मर गया। उसकी माता महादेवी पुरुषोत्तम को बहुत ही चाहती थी क्योंकि पुरुषोत्तम योग्य पुत्र था, धंधे में उसने बहुत धन पैदा किया था, दान, धर्म, पुण्य कर्मादिक में वह बहुत ही उदार था, सब लोग उसकी अत्यन्त प्रशंसा करते थे। ग्राम के लोग उसे ग्राम की नाक समझते थे। यों तो माता का प्रेम पुत्र पर होता ही है परन्तु महादेवी का प्रेम पुरुषोत्तम पर अवर्णनीय था। वह उसे केवल अपना ही आत्मा न समझती थी परन्तु सब शहर का आत्मा और सब का कल्याण करने वाला समझती थी। वास्तविक

रीति से पुरुषोत्तम सत्यव्रती नगरी का एक महा रत्न था। वह अपनी वहिन के पास भी जाया करता था किन्तु माता को बहिन की और वहिनके पास जानेकी कुछ खबर नहीं देता था, देशावरोंमें दूरदूर तक उसका कामकाज चलनेसे जाने आनेमें कहीं का नाम ले देता था। महादेवी को निश्चय था कि पुत्री को जङ्गली जानवर मार कर खा गये होंगे। पुरुषोत्तम ने एक युक्ति और भी कर रक्खी थी, वहिन को उसने अपना नाम प्रकाशचंद बता रक्खा था और सूर्यपुर में वह प्रकाशचन्द के नाम से प्रसिद्ध था। उसने अपनी बहिन का नाम चेतना देवी रक्खा था। जब वह बहिन के पास रहा करता तब भी उसकी उदारता जैसी की तैसी रहती थी। जब बहिन योग्य वय की हुई तब उसने उसका विवाह रजेशचन्द नामक एक योग्य पुरुष के साथ कर दिया। रजेशचन्द के साथ भी प्रकाशचन्द का बहुत मेल रहता था। रजेशचन्द के पास जो कुछ ऐश्वर्य था वह प्रकाशचन्द का ही दिया हुआ था। सूर्यपुर में प्रकाशचन्द की कीर्ति वहुत ही फैल गई थी और वहां के लोगों का यह निश्चय था कि मनुष्य में जितने शुभ गुण हो सकते हैं वे सब ही प्रकाशचन्द में हैं और पृथ्वी पर कोई भी मनुष्य प्रकाशचन्द के समान न होगा। माता के पास जो पुरुषोत्तम कहलाता था वह ही बहिन के ग्राम में प्रकाशचन्द के नाम से प्रसिद्ध था। जब वह बहिन के पास आता था तब एक ग्राम में होकर आना होता था वहां एक युवा कन्या से उसकी मुलाकात हुई। दोनों में प्रेम ने निवास किया। वह कन्या हीन जाति की थी इसलिये उसके साथ प्रत्यक्ष रूप से उसका विवाह

नहीं हो सकता था। कन्या के माता पिता की आज्ञा से विवाह कर लिया गया और इस स्थान पर उसने अपना नाम प्यारेलाल और व्याही हुई कन्या का नाम मदनमंजरी रक्खा और वह तीनों ग्रामों में चार चार महीने रहने लगा। जिस ग्राम में उसने विवाह किया था उसका नाम विलासपुर था। प्यारेलाल की कीर्ति विलासपुर में अत्यन्त फैल गई। वहां के लोग महामान्य की दृष्टि से उसे देखते थे। मदनमंजरी का प्रेम बहुत था, वह प्यारेलाल के सिवाय अन्य कोई सामर्थ्य वाला, सद्गुणी, ऐश्वर्य वाला हो ऐसा नहीं मानती थी किंतु मनुष्य रूप में वह ईश्वर ही है ऐसा उसका दृढ़ निश्चय था। पुरुषोत्तम माता वाले स्थान में वहिन और पत्नी के स्थान का, वहिन के स्थान में माता और पत्नी के स्थान का और पत्नी के स्थान में माता और वहिन के स्थान का कथन नहीं करता था। वहिन माता की छोड़ी हुई होने से और हीन कुल की पत्नी माता को अप्रिय होने से माता के सामने उनका जिकर न करता। वहिन भी उच्च कुल में व्याही थी इसके सामने हीन कुल की पत्नी का जिकर करना नहीं चाहता था और माता की जिकर करने से वहिन को रंज होता इसलिये माता की जिकर वहां नहीं करता था। पत्नी के सामने माता और वहिन का जिकर करने से कोई फल न था। पत्नी के सामने उच्च कुल का होकर तुमसे विवाह किया है ऐसा नीच बनना नहीं चाहता था।

कुछ दिनों तक पुरुषोत्तम का व्यवहार युक्ति पूर्वक चलता रहा। एक समय सूर्य ग्रहण पड़ा तब पत्नी ने प्यारेलाल से कुरु-

क्षेत्र स्नान करने की आज्ञा ली और वह वहां ग्रहण में स्नान करने गई। सत्यवती नगरी से महादेवी और सूर्यपुर से चेतना देवी ये दोनों भी उसी पर्व पर कुरुक्षेत्र में स्नान करने आईं। पर्व के समय पर तीनों ही एक स्थान पर स्नान कर रही थीं। महादेवी ने किसी एक मनुष्य के सामने अपने पुत्र की प्रशंसा की। श्रीमानता का पूर्ण अभिमान उसमें भरा था वह कहने लगी "मेरा पुत्र पुरुषोत्तम ही सद्गुण की मूर्ति है। उसके समान कोई पुरुष आज तक सुनने या देखने में नहीं आया। वह पूर्ण ईश्वर का अवतार है। पुराणों में राम, कृष्ण, परशुराम आदिक को ईश्वरावतार सुना है परन्तु उन सम्पूर्ण अवतारों का एक पूर्ण रूप पुरुषोत्तम है।" यह बात पास खड़ी हुई चेतनादेवी सुन रही थी, वह भी ऐश्वर्य के मद से कम अभिमान वाली न थी, बोल उठी "अरी डोकरी, झूठ क्यों बोलती है ? मेरे भाई प्रकाशचन्द के समान तेरा पुत्र कभी भी न होगा। उसकी कीर्ति के सामने किसी की कीर्ति टिक नहीं सकती।" अपने पुत्र को तुच्छ वचन कहती हुई देखकर महादेवी सिंह के समान बोली "अरी ! तू मेरे पुत्र को तुच्छ वचन कहने वाली कौन ? उद्धत लड़की ! तू कोई पूर्ण नीच है। अपनी जीभ को बन्द कर नहीं तो मैं अपने नौकरों को आज्ञा देकर तेरी जीभ खिंचवा लूंगी।" पास खड़ी हुई मदनमंजरी दोनों की लड़ाई देख रही थी उससे रहा न गया, बोल उठी 'शोक ! तुम दोनों आपस में क्यों लड़ती हो ? दोनों ही झूठ बकने वाली हो।' मेरे पति प्यारेलाल के समान सद्गुणी, प्रतापवान्, प्रतिष्ठित जगत् भर में कोई नहीं है, उसके परोपकारों से

विक्रमादित्य का मुख श्याम पड़ गया है, राजा कर्ण का दान तृण समान तुच्छ लगता है। (डोकरीकी तरफ देखकर) तेरा पुरुषोत्तम और (चेतनादेवी की तरफ देख कर) तेरा प्रकाशचन्द मेरे पति प्यारेलाल के सामने रुपये में एक कौड़ी दाम का भी न होगा!" ऐसे वचन सुन कर महादेवी और चेतनादेवी क्रोधित हुईं और क्रोधित वचन बोलते २ तीनों में हाथापाई होने लगी। बहुत लोग जमा हो गये। पुलिस भी आ गई, तीनों के चोट आई हुई देखकर तीनों को बंदी करके ले गये।

प्यारेलाल बिलासपुर में था। जब अपनी पत्नी को कुरुक्षेत्र जाने को रेल में बैठाकर आया तब इच्छा हुई कि मैं भी कुरुक्षेत्र जाऊं ऐसा विचार कर वह दूसरी रेलगाड़ी में सवार होकर चला। जब पुलिस तीनों को पकड़ कर ले जा रही थी तब वह रेल से उतर कर आता हुआ मार्ग में मिला। दूर से आता हुआ देख कर महादेवी पुकार उठी "हाय पुरुषोत्तम! तू आ गया! अब तू ही मुझे छुड़ा लेगा और इन दोनों को झूठी सिद्ध करेगा।" चेतनादेवी बोल उठी "भाई प्रकाशचन्द आ रहा है।" मदन-मंजरी बोली "अब मेरे प्यारेलाल आ गये!" पुरुषोत्तम कौतुक देखता हुआ पास पहुंचा। उसने पुलिस को समझा कर तीनों को छुड़ा लिया, उनसे सब बात सुन कर माता की तरफ देख कर बोला "माता! सत्यवती में रहने वाला तेरा पुत्र पुरुषोत्तम मैं हूँ। (बहिन की तरफ देख कर) बहिन! सूर्यपुर में रहने वाला तेरा भाई प्रकाशचन्द मैं हूँ। (पत्नी की तरफ देख कर) हे

मदनमंजरी ! बिलासपुर में रहने वाला तेरा पति प्यारेलाल मैं हूँ। (सबसे) मेरा यथार्थ ज्ञान न होने से तुम आपस में लड़ मरीं-झगड़ा उत्पन्न हुआ, तीन ग्राम, तीन नाम और तीन संबंधों से वर्तने वाला पुरुष रूप वस्तु मैं एक ही हूं।"

इसी प्रकार सत् चित् आनन्द तीन नहीं हैं परन्तु वस्तुतः एक ही हैं।

शंका:—जब सच्चिदानन्द एक ही है तीन नहीं है तब तीन शब्दों की क्या आवश्यकता है ? ऊपर के दृष्टांत में उपाधि से भेद था। ब्रह्म में उपाधि है नहीं तब तीन क्यों ? सच्चिदानन्द उसका स्वरूप बताते हो, स्वरूप में उपाधि का कुछ काम ही नहीं है।

समाधानः—सच्चिदानन्द तीन शब्द दीखते हुए एक ही हैं। यद्यपि ब्रह्म में उपाधि नहीं है तो भी समझने वाले उपाधि में हैं इसलिये इन तीन शब्दों की योजना है। यदि एक ही शब्द कहें तो ठीक लक्ष नहीं पहुँच सकता। प्रथम शब्द सत् है, सत् का अर्थ "झूठ नहीं है" ऐसा नहीं है किंतु हमेशा रहने वाला सत्य है। ऐसे सत्य प्रकृति और ब्रह्म दोनों ही हैं तब किसका लक्ष किया जाय। सत्य कहने से प्रकृति का ग्रहण न किया जाय इस कारण दूसरा शब्द चित् है। चित् का अर्थ चेतन है। जो हमेशा रहने वाला और चेतन है वह ब्रह्म है। प्रकृति हमेशा रहने वाली तो है परन्तु चेतन नहीं है जड़ है। दोनों शब्द कहने से प्रकृति का ग्रहण न होते हुए ब्रह्म का ही ग्रहण है। सूर्योपासक सूर्य को सत् और

चेतन कहते हैं। इसका ग्रहण न हो इसलिये आनन्द शब्द है। तब ब्रह्म स्वरूप यह हुआ—जो हमेशा रहने वाला है, हमेशा चेतन रूप है और हमेशा आनन्द रूप है ऐसा जो एक तत्त्व है सो ब्रह्म है, वही ऐसा तत्त्व है जो किसी की अपेक्षा रहित अपने आप में टिका हुआ है। सत् चित् आनन्द से लेकर जितने विधेय विशेषण हैं और अव्यक्त, अनादि, अजन्म आदिक जितने निषेध विशेषणों का कथन है वह जिज्ञासु के बोध के निमित्त है— सच्चा बोध होने के लिये है, ब्रह्म के भेद निमित्त नहीं है।

अथवा ब्रह्म निवृत्ति रहित होने से सत् है, सत् एक मुख्य तत्त्व को कहते हैं। इस कारण सब का जो एक मुख्य तत्त्व है सो सत् है। जगत् के सत्य और असत्य से विलक्षण ऐसा सत् है।

जड़ से विलक्षण जो प्रकाश रूप है सो चित् है। जिसका प्रकाश कभी लुप्त न हो ऐसे प्रकाश वाला है सो चित् है। स्थूल और सूक्ष्म चैतन्य के समान प्रकाश वाला नहीं है क्योंकि वे उत्पत्ति नाश वाले हैं और चित् अलुप्त प्रकाश है। दुःख से विलक्षण जो मुख्य प्रीति का विषय है वह आनन्द है जो कभी भी विकार को प्राप्त न हो वह आनन्द है। इस प्रकार तीनों रूप जिस एक में ही सिद्ध होते हैं वह ब्रह्म है। ऐसा ही आत्मा है ऐसा शास्त्र कहते हैं और अनुभवियों को भी ऐसा ही बोध होता है।

ऊपर के तीन पृथक् नहीं हैं यह इस प्रकार समझना चाहिये:- जैसे एक चमकता हीरा एक स्थान पर रक्खा है तीन पुरुष उसे

देख रहे हैं। प्रथम पुरुष दस कदम, दूसरा वीस कदम और तीसरा तीस कदम दूर खड़ा है। तीनों पुरुष उस एक ही हीरे को देख रहे हैं परन्तु हरएक की दूरी भिन्न २ होने से हीरे का प्रकाश भिन्न २ मालूम होता है, अंतिम पुरुष को मंद, दूसरे को मध्यम और प्रथम को तेज दीखता है। जैसे एक ही प्रकाश तीन रूप से दीखता है इसी प्रकार सच्चिदानन्द है। अंतिम को सत् मध्यम को चित् और प्रथम को आनन्द है। आनन्द घन आनन्द है, आनन्द में कुछ कम प्रतीति चित् है और चित् की कुछ कम प्रतीति सत् है। इस प्रकार माया की दूरी लेकर मुमुक्षुओं के समझने के निमित्त कथन किया गया है। आनन्द अद्वैतता में, चित् द्वैत में और सत् का भान अनेक में होता है। आनन्द का भान आनन्दमय कोश में, चित् का भान विज्ञानमय कोश में और सत् का भान मनोमय कोश में विशेषता से होता है। स्थूल पदार्थों को जानने वाला मन है, जब मन सत् जानता है तब आनन्द का प्रकाश चित् में होकर मन में आता है क्योंकि स्थूल में जितनी चेष्टा होती हैं वह सब कारण और सूक्ष्म सहित होती है परन्तु भान स्थूल में होता है; कारण और सूक्ष्म में भान नहीं होता। इसी प्रकार चित् का भान आनन्द सहित चित् में होता है। इस प्रकार भान होने में ही भेद है, वस्तु एक ही है। जिसको सत् चित्त आनन्द कहते हैं वह ही अस्ति, भाति और प्रिय है, वह ही सत् तत् ॐ है। यह सब भौतिक पदार्थों का आधार है। भौतिक पदार्थ नाम रूप से जाने जाते हैं। नाम रूप सत् चित्

आनन्द में टिके हुए हैं। सब का कारण-आधार-अधिष्ठान ब्रह्म है इसलिये ब्रह्म बिना नाम रूप नहीं रह सकते। यदि नाम रूप में से ये तीन भाव हटा लिये जांय तो नाम रूप की सिद्धि नहीं होगी। नाम रूप मायिक दर्शन है वस्तु रूप नहीं है, वस्तु रूप सत् चित् आनन्द है। सब पदार्थों में अस्तित्व सत् है, भासितत्व चित् है और प्रियत्व आनन्द है।

शंका:—पांच पदार्थों में तीन पदार्थ ब्रह्म के और दो माया के बताये और सत् चित् आनन्द निकाल लेने से पदार्थ नहीं रहेगा ऐसा कहा। तब मैं पूछता हूं कि यदि नाम रूप को निकाल लिया जाय तो सत् चित् आनन्द कहां रहेगा? नाम रूप सत् चित् आनन्द को स्थिर रखते हैं। ब्रह्म भी नाम रूप के आधार पर ही दीखता है।

समाधान:—नाम रूप हटा देने से सत् चित् आनन्द कहां रहेगा, यह तेरा कहना तेरी बुद्धि के अनुसार है। यदि मैं पूछूं तू ही बता क्या रहेगा तो तू कहेगा कुछ नहीं रहेगा। अब विचार कुछ नहीं है इसमें भी तो वह है। 'है' अस्ति–सत् को सिद्ध करता है, 'कुछ नहीं' यह भास–प्रकाश बिना कैसे मालूम हो सकता है? यह ज्ञान जिसमें होता है वह ही चित्–भाति है और 'कुछ' तूने मायिक समझा है, वह मायिक नहीं है तब क्या रहा? तत्त्व रूप आनन्द–प्रिय ही रहा। जैसे तू सुषुप्ति से जाग कर कहता है, "वहां कुछ नहीं था, आनन्द मालूम होता था" इसी प्रकार यह है।

जैसे नाव पर चढ़ा हुआ मनुष्य नाव को चलती न जानकर किनारे के वृक्षों को चलता हुआ समझता है ऐसे ही तू चलने वाले को न समझ कर न चलने वाले का चलना अंगीकार करता है, ब्रह्म सत् चित् और आनन्द स्वरूप है, वह कभी हटने वाला नहीं है। ज्ञान, अज्ञान और शरीर की तीनों अवस्थाओं में वह ज्यों का त्यों ही रहता है। उसके लिये हटने को स्थान नहीं है। माया के नाम रूप ऐसे नहीं हैं, वे काल्पनिक, उत्पत्ति नाश वाले और विकारी हैं, उनका ही हटना बन सकता है। सत् चित् आनन्द का आधार नाम रूप नहीं है। नाम रूप परिच्छिन्न हैं, सत् चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपरिच्छिन्न है। परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न का आधार किस प्रकार हो? तू नाम रूप की स्थिति के भाव वाला है। तुझको नाम रूप सत् चित् आनन्द को स्थिर करने वाला जो मालूम होता है वह तेरे अज्ञान का भ्रम है।

शंका:-ॐ तत् सत् ये सत् चित् आनन्द रूप किस प्रकार हैं?

समाधान:-ॐ आनन्द स्वरूप है, तत् ईश्वर स्वरूप होने से चित् है और सत् सत् है। ब्रह्मवादी-ज्ञानी-जीवन्मुक्त का लक्ष्य-भाव-स्वरूप ॐ स्वरूप है वह ही परमानन्द है। सत् का स्थूल में, चित का सूक्ष्म में और आनन्द का कारण में बोध होता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों ॐकार स्वरूप हैं। ये ही उत्पत्ति, स्थिति और लय रूप हैं। ये ही ॐकार की अकार, उकार और मकार मात्रा हैं। 'सब एक ही ब्रह्म है' ऐसा परिपूर्ण बोध ज्ञानी को होता है, इसलिये वह आनन्द स्वरूप है।

दूसरा जो मुमुक्षु है, वह बोध की इच्छा वाला है परन्तु अभी बोध को प्राप्त नहीं हुआ। मुमुक्षु ऐश्वर्य स्वरूप ईश्वर समष्टि भाव वाला होता है। ईश्वर चित् रूप—ज्ञान रूप है, अन्तःकरण शुद्धि के भाव वाला है, अभी विचार की पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं हुआ इसलिये सूक्ष्म है चित् है।

कर्म का फल सत् है, वैदिक धर्म कर्म श्रद्धा सहित किये हुए फल देने वाले हैं। फल की इच्छा हो या न हो वे अवश्य फल देते हैं इसलिये वे सत्य हैं। यदि उन्हें असत्य समझें तो कर्म—यज्ञादिक का लोप होजाय।

इस प्रकार ये तीनों नाम ब्रह्म के हैं। अधिकारी भेद से—लक्ष्य की भिन्नता से तीन दिखलाये गये हैं ये तीनों भाव अपने २ अधिकार के अनुसार कल्याण करने वाले हैं। ॐकार में जो तीन अकार, उकार और मकार मात्रा रूप कथन किये गये हैं वे सब ही ब्रह्म स्वरूप हैं, ब्रह्म के अंग या विभाग बताने के निमित्त कथन नहीं हैं, भिन्न २ कथन किये जाने पर भी एकता का हेतु हैं।

एक ही वस्तु के काल्पनिक तीन भाग करके एक को तीन समझने वाले किस प्रकार की भूल करते हैं इसका एक लौकिक हास्यजनक दृष्टांत इस प्रकार है:—

एक स्थान पर जहां रुई बहुत पैदा होती थी, वहां तीन साहूकार रहते थे। उन तीनों का नाम क्रम से आनन्दशंकर, चेतराम

और सत्यगुप्त था। इन तीनों ने मिल कर रुई खरीदने का धन्धा चालू किया। तीनों ने एक २ लाख रुपये धन्धे में लगाये। तीनों का मिलकर मूल धन तीन लाख रुपये हुए। वे रुई खरीदते और कुछ भाव बढ़ जाने पर वेच देते। मंदे भाव में खरीदते रहते थे। एक वार उन्होंने तीन लाख रुपये की रुई खरीद की और एक गोदाम में भर दी। गोदाम के बाहर रात्रि को एक चौकीदार रहता था। गोदाम में चूहे वहुत हो गये थे। उपाय करने पर भी किसी प्रकार कम न हुए, रुई का बड़ा नुकसान करने लगे। रुई में रहा हुआ विनोला खाने को वे रुई का नुकसान करते थे। उन्हें पकड़ने को कई चूहेदान भी रक्खे गये, उनमें कोई २ पकड़ा भी गया परन्तु कम न हुए। गोदाम वालों ने चूहों के लिये अपनी सब बुद्धि खर्च कर दी। चूहे अपनी बुद्धि का उपयोग करते रहे चूहेदानी में फंस जाने के बाद निकलने का प्रयत्न करते और थोड़ी देर वन्द रह कर किसी न किसी युक्ति से निकल ही जाते थे। चूहा खाने के लालच से घुसते और खा कर निकल जाते थे। इस प्रकार चूहों ने गोदाम वालों को तंग कर दिया जब वे वहुत ही तंग आ गये तब उन्होंने निश्चय किया कि एक बिल्ली लाकर रख दें तो चूहों का सब उपद्रव मिट जाय। ऐसा विचार कर वे एक विल्ली के बच्चे को पकड़ लाये। प्रथम तो चूहे बिल्ली को देख कर उसकी गंध से डरते रहे। बिल्ली को बांध कर रखने से बिल्ली चिल्लाया करती परन्तु चूहों की तरफ न लपकती, तब चूहे समझ गये कि बिल्ली हमको पकड़ नहीं सकती क्योंकि वह स्वयं बंधी हुई है। फिर तो चूहे अपनी धमा चौकड़ी मचाने

लगे। बिल्ली को बंधी रखने से चूहे भागते नहीं हैं ऐसा देख और कई दिन हो गये अब बिल्ली भाग न जायगी ऐसा सोच गोदाम वालों ने बिल्ली को छोड़ दिया। बिल्ली थी छोटी, चूहे थे बड़े बड़े इसलिये बिल्ली के पंजे में बहुत कम फंसते थे और उसे देख रुई में घुस जाते थे। यद्यपि बिल्ली का वश बहुत कम चलता था तो भी उसे कुछ न कुछ भोजन मिल ही जाता था। बहुत कूद फांद करने से बिल्ली के बहुधा चोट लग जाती थी नौकर अथवा मालिक उसको ठीक ठीक न देखते। भला, साझे के धन्धे वालों की बिल्ली की सार संभार कौन करता!

एक समय उसके गले में चोट लगगई। घाव सड़गया और उसमें जीव भी पड़ गये, दुर्गंध देने लगा। सबने मिलकर और ठीक इलाज करके उस घाव को अच्छा कर लिया। 'बिल्ली बारम्बार चोट लगा लेती है, उसकी संभाल नित्य २ कौन करे' ऐसा सोच आनन्दशंकर, चेतराम और सत्यगुप्त ने यह निर्णय किया कि बिल्ली के अंग तीन हिस्सेदारों को बांट दिये जांय, जिसके हिस्से में चोट लगे वह ही हिस्सेदार उसकी संभाल करे। बिल्ली के तीन अंग इस प्रकार बांटे गये:-शिर और आगे के दहने एक पैर का हिस्सा आनन्दशंकर का, आगे का बांया एक पैर और पीठ का हिस्सा चेतराम का और पिछले दोनों पैर और पूंछ का हिस्सा सत्यगुप्त का। अब तीनों निश्चिन्त हुए जिसके हिस्से में आये हुए बिल्ली के अंग में चोट लगे वह उसकी संभाल किया करे। कई दिन तक बिल्ली की संभाल इस प्रकार होती

रही। यद्यपि चूहे अब कम हो गये थे परन्तु चले नहीं गये थे और बिल्ली को कुछ समझते भी न थे। एक समय बिल्ली के आगे के पैर में चोट लगी। हिस्सेदारों के बांट किये हुए अनुसार उस चोट की संभाल आनन्दशंकर के जिम्मे पड़ी। उसने पैर को धोया और मल्लम का फाया बांधा। फाया पैर पर ठहरता न था इसलिये बार बार बांधना पड़ता था। एक मनुष्य ने कहा कि पैर पर फाया नहीं ठहरेगा, नीम के तेल में कपड़े को तर करके बांध दे, वह ठहर जायगा और आराम भी जल्दी हो जायगा। आनन्दशंकर ने उस मनुष्य के कहे अनुसार तेल में कपड़ा भिगो कर बिल्ली के पैर में बांध दिया और बचा हुआ कपड़ा पैर में लपेट दिया। रात्रि में बिल्ली चूहों की खोज में कूदने लगी। जब कोई चूहा न मिला तब वह पास के एक मकान में घुस गई और वहां एक चूहे को देख कर लपकी। वहां एक जलता हुआ दीपक रक्खा था। बंधा हुआ कपड़ा कुछ खुल सा गया था, दीपक की आग लगने से कपड़ा जलने लगा। बिल्ली घबरा कर कूदती हुई रुई के गोदाम में घुस गई और रुई पर दौड़ने लगी। जहां २ बिल्ली जाय वहां २ की रुई में आग लगती जाय। जैसे हनूमानजी ने लंका जलाई थी इसी प्रकार बिल्ली ने गोदाम की सब रुई जलादी और आप भी जल मरी। इस प्रकार तीन लाख की भरी हुई रुई का नाश हो गया। बिल्ली जलती हुई भी जब तक जान रही फड़ फड़ाती हुई बाहर आकर ठंडी हो गई। सब हिस्सेदार एकत्र हुए और आग किस प्रकार लगी इसका निर्णय करने लगे। बिल्ली के पैर में का कुछ कपड़ा देख कर सबने

निश्चय किया कि बत्ती से कपड़े में आग लग गई, बिल्ली भाग कर गोदाम में आई और रुई का नाश किया। चेतराम बोला "आनन्दशंकर! बिल्ली के तुम्हारे वाले पैर ने आग लगाई है, वह पैर तुम्हारा था। इसलिये हम दोनों हिस्सेदारों का रुपया तुमको देना होगा। तुम्हारे तेल के बांधे हुए कपड़े से आग लगी है।" आनन्दशंकर जी में विचारने लगा "क्या करूं? घर का सब धन गया। दो लाख रुपये और कहां से लाऊं? आग तो अवश्य मेरे वाले पैर से ही लगी है।" ऐसा विचारता हुआ और दुखी होता हुआ घर आया और अपने एक मित्र से गोदाम जलने का हाल कह कर बोला "मित्र! दोनों हिस्सेदार मुझसे सब रुपया वसूल करना चाहते हैं, मैं यह रुपया कहां से दूं? आग मेरे वाले पैर से ही लगी थी।" मित्र बोला "तू मुझे अपने हिस्सेदारों के पास ले चल, मैं न्याय कर दूंगा" आनन्दशंकर ने ऐसा ही किया। मित्र ने जाकर दोनों हिस्सेदारों से कहा "तुम लोग आनन्दशंकर से रुपया नहीं ले सकते किंतु तुम दोनों आनन्द शंकर का रुपया दो।" चेतराम बोला "क्यों, किस न्याय से?" मित्र बोला "सुनो, आनन्दशंकर वाला बिल्ली का एक पैर बीमार था, ज़मीन पर खड़ा नहीं हो सकता था, उस हिस्से में चलने की शक्ति ही न थी, वह चला-कूदा नहीं है, (चेतराम से) बिल्ली का तुम्हारा वाला पैर और शरीर और (सत्य गुप्त से) तुम्हारा पिछला पैर ही कूदा है, तुम दोनों के हिस्से ने गोदाम जलाया है, आनन्दशंकर वाले पैर का कुछ दोष नहीं है इसलिये तुम दोनों मिल कर उसके हिस्से के रुपये भर दो?" चेतराम

और सत्य गुप्त सोचने लगे "है तो ठीक। पर रुपया देंगे कहां से ?" इतने में एक पांचवां पुरुष आ गया और यह सब वृत्तान्त सुनकर कहने लगा "न तो चेतराम का किया हुआ न्याय ठीक है और न मित्र का। बिल्ली के तीनों हिस्से बिल्ली का स्वरूप ही है, हिस्से कल्पित होने पर भी बिल्ली स्वरूप से एक ही है, सब की बिल्ली है इसलिये सब को ही टांटा भुगतना पड़ेगा। बिल्ली के हिस्से संभाल के लिये किये गये थे, हानि लाभ के लिये नहीं किये गये थे, यह बात सर्व सम्मत हुई। इसी प्रकार सत् चित् आनन्द तीन हिस्से समझने के लिये हैं, वस्तुतः नहीं हैं। वस्तु स्वरूप ब्रह्म एक ही है।

सच्चिदानन्द और अनेक प्रकार के अन्य विशेषण परब्रह्म को समझाने के निमित्त हैं, वस्तु में भेद नहीं है वह अखंड अद्वैत और सबका आद्यस्वरूप है। जो आत्मा को जानता है वह ही उसे जानने को समर्थ होता है।

जो जो लक्षण परब्रह्म के शास्त्र में वर्णन किये हैं वे सब लक्षण आत्मा के भी हैं इससे आत्मा परब्रह्म से भिन्न नहीं है—आत्मा परब्रह्म स्वरूप ही है। प्रथम पंचकोश को समझ कर उसको पृथक् करके शेष रहा आत्मा को विवेक द्वारा समझना चाहिये। आत्मा में परिच्छिन्नता आदि कोई भी विकार नहीं है। उसमें परिच्छिन्नता का भान अज्ञान से है और वास्तविक स्वरूप पंचकोश से अज्ञानिओं की दृष्टि में ढपा हुआ है इससे पंचकोश विवेक–बोध से आत्मा का स्पष्ट बोध होता है। कोशों के विवेक से परिच्छि-

ञता की हानि होता हैं [illegible] परब्रह्म स्वरूप है ऐसा अनुभव होता है।

पंचकोश के विवे[illegible] आत्मा का निरावरण बोध होता है और सद्गुरु के कथन किये हुए महा वाक्य से आत्मा ही परब्रह्म है ऐसा अपरोक्ष बोध होता है। अभेद बोध का नाम ही अपरोक्ष ज्ञान है। मैं ही सच्चिदानन्द परब्रह्म स्वरूप हूँ ऐसा अपरोक्ष अनुभव से किसी प्रकार की शंका नहीं रहती सबका आत्मा स्वरूप अद्वैत अखंड परमात्मा ही है ऐसा भान होता है। यह स्थिति ही जीवन्मुक्ति है, जिसको परम सुख, सुख स्वरूप परम शान्ति कहते हैं वह यह ही है। मनुष्य इससे ही कृतार्थ होता है।

मैंने इस प्रकार का उपदेश को ग्रहण करके वहां से बगीचे के एक कोने में जाकर पंचकोश के विवेक से अपना आत्म स्वरूप को समझ लिया और यह आत्मा ही परब्रह्म स्वरूप है ऐसे निश्चय में टिक कर कृतार्थ हुआ। जिस सुख की खोज में मैं निकला था वह सद्गुरु की कृपा से मुझे प्राप्त हुआ।

वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य मुख्य चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह भाषा सहित है। मूल्य ॥)

ब्रह्मसूत्र—शांकर भाष्य भाषानुवाद भाग १—(पूर्वार्ध) ६८६ पृष्ठ की सुन्दर जिल्द सहित। मूल्य ३)

वेदान्त दीपिका—वेदान्त के महत्त्व के ग्रंथों को पढ़ने पर भी जिन २ शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशांत रहता है; ऐसी सब शंकायें समूल नष्ट हो जांयगी। शंका को प्रथम युक्ति पूर्वक समझा कर उसको दृढ़ करने के लिए प्रसंगानुसार दृष्टांत दिये गये हैं इससे ग्रंथ रोचक बन गया है। मूल्य १॥)

कायाँ पलट नाटक—राजा रानी और मंत्री के रूप से जीव बुद्धि और मन की जगत की आसक्ति में फंसना और सद्गुरु के उपदेश द्वारा ज्ञान भाव में आने का वर्णन है। प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन हैं। मूल्य ।)

वाक्य सुधा—भाषा विवेचन सहित। वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थानों पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है ऐसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता; रहस्य पूर्ण विवेचन से भली प्रकार समझाया गया है। मुमुक्षुओं को अत्यन्त हितकर है। मूल्य १)

उपनिषत् (५१)—इसमें भिन्न भिन्न प्रकार की उपासना, ज्ञानके अपूर्व अनुभव तथा योगकी रहस्यमय क्रियाओं का बोध युक्त वर्णन है। सरल हिन्दी भाषा में ५१ उपनिषदों का अनुवाद सुन्दर छपाई के ५५७ के करीब पृष्ठ की कपड़े की सुंदर जिल्द। मूल्य २॥)

महावाक्य—महावाक्य के सिवाय किसी को आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। लौकिक ज्ञान से आत्मा का ज्ञान रहस्यरूप अत्यंत सूक्ष्म और त्रिपुटीका बाध करके होता है; उसको इसमें विवेचन है। दृष्टांतों द्वारा बहुत सरल करके भली प्रकार समझाया गया है। मूल्य १)

सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी;
बेलनगंज-आगरा।